गीता-मन्थन

लेखक : कि० घ० मशरूवाला

अिस ग्रन्थमें लेखकने गीता जैसे शाश्वत और सनातन महत्त्व रखनेवाले धर्मग्रन्थके गूढ़ और गंभीर विषयको सरल, सुबोध और रोचक भाषामें समझाया है। यह पुस्तक अुन्होंने साधारण पढ़े-लिखे विचारशील लोगोंके लिअे ही लिखी है, न कि पंडित-वर्गके लिअे। यह भारतीय भाषाओंमें गीताका विवेचन करनेवाली अपने ढंगकी अनोखी पुस्तक है, जो लेखककी सबसे अधिक लोकप्रिय पुस्तक सिद्ध हुअी है। प्रत्येक श्रेयार्थीको यह ग्रन्थ अवश्य पढ़ना चाहिये।

कीमत ३–०–० डाकखर्च १–०–०

बुनियादी शिक्षा

लेखक : गांधीजी

स्वतंत्र भारतका हर व्यक्ति जब तक सुशिक्षित नागरिक नहीं बन जाता, तब तक हम सच्चे अर्थमें आजादीका अुपभोग नहीं कर सकते। और आजकी हालतोंमें अिसका अेकमात्र रास्ता वही है, जो गांधीजीने अिस पुस्तकमें बताया है — यानी अुद्योग द्वारा दी जानेवाली स्वावलंबी शिक्षा।

कीमत १–८–० डाकखर्च ०–६–०

शिक्षाका विकास

लेखक : कि० घ० मशरूवाला

बुनियादी तालीमका धीरे-धीरे कैसे विकास हुआ, यह बतानेवाले तथा बुनियादी शिक्षाके आधारभूत सिद्धान्तोंकी गहरी और विशद चर्चा करनेवाले लेखोंका अिस पुस्तकमें संग्रह किया गया है। साथमें श्री नरहरि परीखकी भूमिका भी दी गअी है, जो पाठकोंको आगे आनेवाले लेखोंके लिअे तैयार करती है। भूमिकाके दो प्रकरणोंमें बुनियादी शिक्षाके मूद्दों, अुसकी कठिनाअियों और अुनके अुपायों तथा अितिहासके शिक्षणके बारेमें विस्तृत चर्चा की गअी है।

कीमत १–४–० डाकखर्च ०–५–०

शिक्षामें विवेक

कि० घ० मशरूवाला

नवजीवन प्रकाशन मन्दिर
अहमदाबाद

अनुक्रमणिका

निवेदन ३

पहला भाग : तत्त्व-विवेक

१. शिक्षाका दर्शन ३
२. अुच्च शिक्षा १६
३. राष्ट्रीय शिक्षा ४०
४. शिक्षा पर राज्यका अंकुश ४४
५. 'विशारद' का अध्ययन ५३
६. मनुष्यताकी, प्रतिष्ठाकी और निर्वाहकी शिक्षा ५५
७. शिक्षणमें भावनाओंका विकास ६३
८. विनय बनाम दृढ़ता और स्वातंत्र्य-वृत्ति ६६
९. तारतम्य-बुद्धि ६८
१०. बुद्धि किस प्रकार विकसित हो? ७३

दूसरा भाग : प्रवृत्ति-विवेक

१. स्कूलोंके वार्षिक सम्मेलन ८३
२. आदर्श आचार्य ८९
३. कुछ हरिजन छात्रालय ९२
४. बालकोंके नृत्य और नाटक ९५
५. अितिहासकी शिक्षामें यथार्थताकी मात्रा १००
६. 'पगदंडी' की प्रस्तावना १०७

तीसरा भाग : प्रश्न-चर्चा

१. विविध प्रश्न ११५
२. विद्यार्थी-जीवनकी दुरवस्था १२२
३. धन्धा या विकास? १२५
४. अुद्योग या शरीर-श्रम? १२८
५. धार्मिक शिक्षणकी दृष्टि १२९
६. वर्ग-विग्रह बनाम अहिंसा १३०
७. स्वतंत्रता और नियमन १३३
८. संस्कारी और असंस्कारी बालकोंका सहवास १३५

शिक्षामें विवेक

पहला भाग

तत्त्व-विवेक

१

शिक्षाका दर्शन*

१

आचार्य जैक्सकी ख्याति तो मैंने सुनी थी, लेकिन अुनकी कोअी रचना नहीं पढ़ी थी। 'शिक्षण अने साहित्य' (शिक्षण और साहित्य) मासिकके अेक अंकमें अिस पुस्तकके 'फुरसदनुं शास्त्र अने कळा' (फुरसतका शास्त्र और कला) नामक अेक प्रकरणका अनुवाद मैंने पढ़ा। वह मुझे विचारप्रेरक मालूम हुआ और पसन्द आया। अिससे अिस लेखककी दूसरी रचनायें भी प्रकाशित करनेकी मैंने संपादक महोदयसे प्रार्थना की। अुत्तरमें अुन्होंने लिखा कि आचार्य जैक्सकी दो पुस्तकोंका अनुवाद श्री गोपालदास पटेल तैयार कर रहे हैं। अुनमें से अेक पुस्तक है 'सर्वोदयनी जीवनकळा' (सर्वोदयकी जीवन-कला) और दूसरी यह पुस्तक। मेरी अुस प्रार्थनाके परिणामस्वरूप अिस पुस्तककी भूमिका लिखनेका भार भी मेरे ही सिर डाल दिया गया।

अिस पुस्तकका विषय तो 'शिक्षा' है, परंतु अिससे अैसा नहीं समझना चाहिये कि यह केवल शिक्षकोंके लिअे बनाअी गअी कोअी पाठ्यपुस्तक है। यह जितनी अध्यापकोंके लिअे है, अुतनी ही, बल्कि अुससे ज्यादा, साधारण मनुष्योंके लिअे है। क्योंकि लेखककी रायमें "शिक्षा कोअी अैसी प्रवृत्ति नहीं है, जिसे पैसे लेकर काम करनेवाले धंधेदार लोग चलाते हैं और जिसकी नीरस गुनगुनाहट स्कूल-कॉलेजोंकी दीवारोंके बीच चला करती है;" बल्कि वह तो अैसी "प्रधान प्रवृत्ति है जिसे सारे समाजको अपनाना चाहिये।" "हर नागरिकसे अुसका खास संबंध है, और वह (शिक्षा) भी कुछ समय तक चलनेवाली नहीं, बल्कि जीवनभर व्याप्त रहनेवाली। अुसका क्षेत्र विश्वव्यापी होगा। वह आदिसे

* 'मनुष्यनी सर्वांगीण केळवणी' (मनुष्यकी सर्वांगीण शिक्षा) नामक गुजराती पुस्तककी प्रस्तावना।

अन्त तक मनुष्यका सर्वांगीण निर्माण करनेका प्रयत्न करेगी; तथा अुसका ध्येय संपूर्ण ज्ञानको मानव-कुशलतामें परिणत करनेका और सामाजिक प्रवृत्तिके प्रत्येक विभागमें अुत्तमताकी अुपासनामें लगानेका होगा।" (पृ० १३-१४) वर्धा-योजनाकी परिभाषामें कहूं तो हर अुद्योगका तीन तरहसे विचार किया जा सकता है: शिक्षाके माध्यमके रूपमें, जीविकाके साधनके रूपमें और कलाके रूपमें — अर्थात् आत्म-विकास और आत्म-तृप्तिके साधनके रूपमें। अुदाहरणके लिअे, कताअी और खेतीको सभी बालकोंकी बुनियादी शिक्षाका माध्यम बनाया जा सकता है; अपने अुदर-निर्वाहके लिअे बालक भले कोअी दूसरा अुद्योग करनेवाला हो या करता हो; और आत्म-विकास तथा आत्म-तृप्तिके लिअे कोअी तीसरी ही प्रवृत्ति करे; जैसे, चित्रकारी। अुसी तरह मनुष्य राज या डॉक्टरीका धंधा निर्वाहके साधनके रूपमें कर सकता है, परंतु वह बुनियादी शिक्षाका माध्यम बनाया जा सके या न भी बनाया जा सके और अुससे आत्म-विकास तथा आत्म-तृप्ति हो या न भी हो। आचार्य जैक्सके विचारके अनुसार शिक्षा मनुष्यके जन्मसे मृत्युपर्यन्त निरन्तर चलनेवाली प्रवृत्ति है, जो अुसे आत्म-विकास और आत्म-तृप्तिके लिअे करते रहना चाहिये, जो अुसकी बुनियादी शिक्षाके और जीविकाके अुद्योगमें भी व्याप्त है और अुन अुद्योगोंके बाहर भी व्याप्त है। "अिस प्रकारकी व्यापक कल्पनामें शिक्षा तो . . . (हर मनुष्यका) धंधा ही बन जाती है। . . . अिस प्रकार जब शिक्षा स्कूल-कॉलेजकी चीज मिटकर सामाजिक चीज बन जाती है, तभी वह युद्धके अेवजके रूपमें पेश की जा सकती है; तभी वह अैसी चीज बन सकती है, जिसके खातिर मरना अुचित माना जायगा और अिसलिअे जिसके खातिर जीना भी योग्य कहा जायगा।" (पृ० १४)

यह 'शिक्षा' कौनसी है? हम सब 'शिक्षा, शिक्षा' का शोर तो मचाते हैं और 'हमारे देशके शिक्षामें पिछड़े हुअे' होनेका रोना रोते हैं। 'अनिवार्य शिक्षा', 'प्राथमिक शिक्षा', 'प्रौढ़ शिक्षा', 'अुच्च शिक्षा', 'बुनियादी शिक्षा', 'राष्ट्रीय शिक्षा', 'सांस्कृतिक शिक्षा', 'धार्मिक शिक्षा', 'औद्योगिक शिक्षा', 'व्यापारिक शिक्षा', 'व्यावहारिक शिक्षा' आदि नामों और भेदोंके जरिये हम शिक्षाका तेजीसे प्रचार करनेकी लालसा रखते हैं और अुसके लिअे प्रयत्न करते हैं। फिर भी यदि यह कहा जाय कि शिक्षाके ठीक-ठीक अर्थके बारेमें तथा अुसे देनेकी पद्धतिके बारेमें अभी हमारे मत और दृष्टि स्पष्ट नहीं हैं, तो अनुचित नहीं होगा। यह स्थिति कोअी हमारे ही देशकी नहीं है। जो राष्ट्र सभ्यताके शिखर पर पहुंचे हुअे माने जाते हैं और जिन्होंने शत प्रतिशत निरक्षरता दूर कर दी है, अुनकी भी यही स्थिति है।

मनुष्य ध्येयों और आशाओंके साथ जन्म लेता है और अुन्हें क्रम-क्रमसे सिद्ध करनेके अुपाय और साधन जुटाता है। अुन साधनोंमें 'शिक्षा' को भी अेक आवश्यक अुपाय मानकर वह अुसके पीछे पड़ता है। वह शिक्षा अुसे अपनी आशाओंको बढ़ाती और अुनका पोषण करती हुअी मालूम होती है, तथा आरंभमें अुन्हें सफल करती या करनेका मार्ग बतलाती हुअी मालूम होती है। परंतु बादमें यह अनुभव होने लगता है कि आशायें तो बढ़ी हैं, ध्येय भी कुछ अधिक स्पष्ट या विकसित हुअे हैं, लेकिन अुन्हें सिद्ध करनेका कोअी रास्ता दिखाअी नहीं देता। अुसकी अपनी और दूसरोंकी आशाओं और ध्येयोंके बीच कोअी मेल नहीं बैठता। अुसके ध्येयों और आशाओंको दूसरे तोड़ते हैं और दूसरोंके ध्येयों और आशाओंको वह खुद तोड़ता है। अथवा, अेकका ध्येय दूसरेकी पीठ पर सवार होकर ही सिद्ध किया जा सकता है। और हर मनुष्यमें जीवनके अंतिम समयमें किसी न किसी विषयमें या तो 'मनकी मन ही मांहि रही' का भाव पैदा होता है या जीवन व्यर्थ बीतता हुआ मालूम होता है। अुसे जीवनका कोअी अुपयोग नहीं मालूम होता। अिसका परिणाम यह होता है कि जगत अुसे नन्दनवन जैसा नहीं, बल्कि हिंसक पशुओंसे भरा हुआ, बार-बार दावानलसे सुलग अुठनेवाला अथवा मारवाड़की मरुभूमि जैसा वीरान लगता है। लाखोंमें अेकाधको ही जीवनके अन्तमें वह सफल हुआ लगता है, और करोड़ोंमें अेकाध मनुष्यको ही यह अनुभव होता है कि समग्र जीवन सफलताकी अुत्तरोत्तर चढ़ती हुअी सीढ़ियों जैसा है।

जब अैसा होता है तो वह फिरसे विचारमें पड़ता है और अपनी भूलको ढूंढ़नेका प्रयत्न करता है। और आखिरमें हमेशा वह अिसी निर्णय

पर आता है कि भूल 'वर्तमान शिक्षा' में ही है; अर्थात्, शिक्षाके अभावमें है या गलत शिक्षामें है। फिर वह शिक्षा-पद्धतिको बदलनेका प्रयत्न करता है। अिस प्रकार दुनियामें शिक्षाकी अनेक पद्धतियां पैदा हुअी हैं। किन्तु अभी तक जीवनको सफल करनेवाली शिक्षाका पता नहीं लग पाया है।

तब स्वाभाविक ही यह शंका अुठती है कि पढ़-पढ़कर भी मनुष्य तेलीके बैलकी तरह जहांका तहां क्यों रहता है? जीवनके अनेक वर्ष विविध विद्यायें सीखने और प्राप्त करनेमें लगाने पर भी परिणाम शून्य क्यों दिखाअी देता है? अूपर अूपरकी तो बहुतसी बातें दीखती हैं, लेकिन तत्त्वकी बात क्यों नहीं दिखाअी देती?

युगोंसे अिस प्रश्न पर विचार होता आ रहा है। अिसी विचारसे विविध दर्शन और तत्त्वज्ञान पैदा हुअे हैं। अुसीमें से अनेक प्रकारकी राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्थाअें पैदा हुअी हैं और हो रही हैं। अुसीमें से बार-बार क्रान्तिकारी अुथल-पुथल और भयंकर युद्ध अुत्पन्न हुअे हैं। प्रत्येकने कुछ-न-कुछ नया प्रकाश डाला है। अुनमें से कुछ चीजोंका मनुष्य-जातिको लाभ भी मिला है। परंतु बहुत बार अिन दर्शनों और तत्त्वज्ञानोंका कुछ हिस्सा अच्छी तरह दृढ़ न हो पानेके कारण विस्मृतिके गर्भमें लुप्त हो गया है, अथवा अुनका कुछ अंश दृढ़ हो जानेके बाद अधूरा मालूम हुआ है; किन्तु दृढ़ हो जानेके कारण ही वह आसानीसे भुलाया नहीं जा सका है। मतलब यह कि या तो 'शिक्षा' अधूरी मालूम हुअी है या गलत पद्धतिसे दी गअी मालूम हुअी है। अिस प्रकार, यह शोध अभी तक पूरी नहीं हुअी है; और अधिक संभव तो यह है कि जब तक मानव-वंश चलता रहेगा, वह पूरी नहीं होगी।

२

जीवन क्या है, अुसका प्रयोजन अथवा योग्य ध्येय क्या है, अुस ध्येयको सिद्ध करनेका साधन-मार्ग क्या है, अिसकी प्रत्येक नअी और स्वतंत्र व्यवस्थाको 'दर्शन' कहा जाता है। आत्मा या जगत्के नामसे जीवन सबकी शोधका समान विषय है, अिसलिअे सभी दर्शन जीवनके

— अथवा अधिकतर सिर्फ मानव-जीवनके — दर्शन हैं। लेकिन हरअेकका दृष्टिकोण या साधन-मार्ग अलग-अलग होनेके कारण हरअेकको अपनी विशेषताके अनुसार अलग-अलग नाम दिया जाता है। अिस प्रकार न्यायादि वैदिक दर्शन, जैन, बौद्ध आदि अवैदिक दर्शन तथा अतिपूर्व और पश्चिमके विविध प्राचीन और अर्वाचीन दर्शन प्रसिद्ध हैं। काकासाहब कालेलकरने शिक्षाको भी अेक स्वतंत्र दर्शन माना है और अिस पुस्तकको देखते हुअे आचार्य जैक्सको भी 'शिक्षा-दर्शन' का अेक विवेचक माना जा सकता है।

जीवन — अथवा आत्माका स्वरूप — 'अखण्ड ज्ञान' है, 'अखण्ड योग' है, अथवा 'सतत चलनेवाली शिक्षा' है, वगैरा प्रयोग अेक अर्थमें ठीक ही हैं। अैसे और भी बहुतसे विधान किये जा सकते हैं। जैसे कि किसीने कहा है, जीवन 'अनुभवकी महान शाला' है, अथवा 'सतत संग्राम' है, 'सतत विकास' है, 'अज्ञान, असत्य, अशुभ, मृत्यु, शोक आदिमें से ज्ञान, सत्य, शुभ, अमरता, आनन्द आदिकी ओर ले जानेवाला महान प्रवाह' है; अथवा गांधीजीके शब्दोंमें वह 'सत्यकी अविश्रान्त शोध' है, आदि आदि। ये सब विधान सच्चे होते हुअे भी अधूरे हैं। जैसे किसी मकानके अलग अलग कोनों परसे लिअे हुअे चित्र सच्चे होते हुअे भी अलग अलग कोनों परसे दिखनेवाले चित्र ही होते हैं, अुनमें से अेक भी संपूर्ण मकानका चित्र पेश नहीं कर सकता, वही बात अिन विधानोंकी भी है। और अिसीलिअे अेक चित्रको मुख्य मानकर अुसके आधार पर बतलाया हुआ साधन-मार्ग पूर्ण नहीं हो सकता। अुसका दोष दूसरे कोनों परसे लिअे हुअे चित्रों द्वारा ही दूर किया जा सकता है। अिस प्रकार प्रत्येक दर्शन दूसरे दर्शनोंकी कुछ-कुछ न्यूनतायें पूरी करनेवाला और कुछ हद तक जीवनको समझानेवाला होता है। परंतु ये सब दर्शन मिलकर भी जीवनका समूचा दर्शन नहीं करा सकते। क्योंकि जीवन आखिर जीवन ही है; और चित्र — दर्शन चित्र और दर्शन ही हैं। अुसकी विशालता और सूक्ष्मता दोनों कल्पनातीत हैं। जैसा कि अेक अमरीकन लेखक अेमरेम शाअिनफेल्ड (Amram Scheinfeld) कहता है : "आकाशकी ओर देखकर विश्वकी अनन्त महत्ताका खयाल करनेकी शायद आपको आदत पड़ गअी होगी। सूर्य पृथ्वीसे करोड़ों

मील दूर है ; तेजकी बिन्दियों जैसे दिखाओ देनेवाले तारे संभव है पृथ्वीसे अब्जों गुने बड़े हों ; अमुक तारेकी जो किरण आप आज देखते हैं वह छह हजार वर्ष पहले सुलगे हुअे पदार्थसे निकली होगी ; और आकाश हमारी बड़ीसे बड़ी दूरबीनकी पहुंचसे भी परे है, और अुसमें शायद अब्जों तारे (यानी सूर्यमण्डल) घूमते हैं। यह सब माननेके लिअे आप तैयार हैं। यह आपके **बाहर**की सृष्टिकी अनन्त महत्ता है। अब अपने **अन्दर**की सृष्टिकी ओर मुड़िये। वहां अनन्त सूक्ष्मताका वास है।" (You and Heredity) । अुसके आकारके प्रमाणकी कल्पना करनेके लिअे अेक चनेकी दालके बराबर जगहकी कल्पना कीजिये। अुसमें दो अब्ज यानी सारी दुनियाकी जितनी मनुष्य-संख्या है अुतने मानव जैसे प्राणियोंका निर्माण कर सकनेवाले 'सर्जक बीज' (Spermatozoa) रह सकते हैं। अेक अेक सर्जक बीज सूर्यके जैसे अनेक ग्रहों और अुपग्रहोंका मण्डलाधीश है। अुदाहरणके लिअे. मानव-सर्जकमें अड़तालीस 'अुपसर्जक' (Chromosomes) होते हैं ; और प्रत्येक अुपसर्जकमें सैकड़ोंकी तादादमें सूक्ष्म जनकों (Genes) की शृंखला रहती है। अच्छेसे अच्छे सूक्ष्म-दर्शक यंत्रोंमें यहीं तक बतलानेकी शक्ति है। लेकिन वैसा प्रत्येक सूक्ष्म 'जनक' भी अधिक सूक्ष्म जीवोंकी माला हो सकता है। अैसे अेक सूक्ष्म जनककी शक्तिका विचार करने पर हमें मालूम होगा कि दो जनकोंके बीच रहा हुआ कोअी सूक्ष्म भेद दो मनुष्योंमें प्रह्लाद और हिरण्यकशिपु जैसा दैव-आसुर स्वाभावभेद निर्माण कर सकता है। विशालताकी तरह जीवनकी सूक्ष्मता भी अुतनी ही कल्पनातीत है। तब परिमित मानव अुसका समग्र दर्शन न कर सके तो अुसमें आश्चर्य कैसा ?

यदि हम हिन्दुस्तानके किसी पुराने गांवमें देखें तो वहांकी बस्ती अक्सर बहुत ही अव्यवस्थित ढंगसे बसी हुअी दिखाओ देती है। मकान चाहे जैसे बंधे होते हैं, गलियां टेढ़ी-मेढ़ी होती हैं ; हवा, प्रकाश, आने-जानेके रास्ते, सीध, ढाल वगैरा किसीका भी किसीने विचार किया हो अैसा नहीं मालूम होता। जिसके मनमें जैसा आया वैसा दूसरेकी सुविधा-असुविधाका खयाल किये बिना मकान बांध दिया है। गांवोंकी यह हालत देखकर हमारे सुधरे हुअे अिंजीनियर लोग अब ग्राम-रचनाके नकशे बना

रहे हैं। लेकिन वे भी हर गांवको अेक स्वयंपूर्ण स्वतंत्र बस्ती समझकर ही नकशे बनाते हैं। अैसे आसपासके पांच-छह गांवोंका मिलकर अेक शहर बन जाय तो संभव है हर गांवके व्यवस्थित रूपसे बसे होने पर भी सारा शहर अव्यवस्थित रूपमें बसा हुआ सिद्ध हो, क्योंकि ग्राम-रचना करते समय दूसरे गांवोंके साथ मिलनेका तथा शहर-रचनाका खयाल ही नहीं किया गया था।

यही बात 'शिक्षा'के द्वारा की गअी मानव-जीवनकी रचनाके सम्बन्धमें हुअी है। करोड़ों प्रकारकी सूक्ष्म और लाखों प्रकारकी स्थूल जीवयोनियोंका मिलकर संसारमें जीवन प्रकट हुआ दिखाओ देता है। अुन सबकी हम पूरी कल्पना भी नहीं कर सकते तो परिचय तो सबसे हो ही कैसे सकता है ? जितनी योनियोंसे हमारा परिचय है, अुनके भी परस्पर सम्बन्ध हम नहीं समझते। यदि कहीं समझते हैं तो वह अधूरा या विरोधात्मक सम्बन्ध होता है ; मेलका सम्बन्ध हम नहीं जानते। अैसी अनेक योनियोंमें अेक मानव-योनि है। अुसके समग्र जीवनकी भी हमें पूरी कल्पना नहीं है। बहुत हुआ तो हमें अुसके अलग-अलग व्यक्तियोंका या छोटे-छोटे समूहोंके जीवनके कुछ अंशोंका ज्ञान है। जीवन-रचनाके नकशे बनानेके लिअे हमारे कुशलसे कुशल अिंजीनियरके पास भी अितनी ही ज्ञान-सामग्री है।

अैसे सीमित नये दर्शनकार भी कअी वर्षोंमें दुनियाके किसी अेक कोनेमें ही पैदा होते हैं, और अुनका प्रभाव भी अेक सीमित क्षेत्रमें या सीमित समय तक ही रहता है। अिसलिअे व्यवस्थित जीवन-रचनाके छुटपुट प्रयत्न होते हुअे भी कुल मिलाकर मानव-जीवन अभी भारतके अव्यवस्थित गांवों जैसा ही बेडौल, गन्दा और असुविधाओंसे भरा हुआ है। कवियोंने सुन्दर और आह्लादक गांवोंकी कल्पना जरूर की है, लेकिन प्रत्यक्ष अनुभवमें वह गांवोंके भीतर नहीं मिलती। वहां तो धूल, घूरे, दुर्गन्ध और गिचपिच टेढ़ी-मेढ़ी झोंपड़ियोंके समूह ही दिखाओ देते हैं। सुन्दरता और प्रसन्नता गांवके **बाहर** है। अुसी प्रकार हम भी जीवनकी सुन्दरता और प्रसन्नताका दर्शन जीवनके बाहर, कल्पनाके क्षेत्रमें, पर-

लोकमें, कर रहे हैं। जीवनके **भीतर**, अिस लोकमें, तो दुःख और शोकका समुद्र ही माना गया है, वर्णन किया गया है और अनुभव किया गया है।

बहुतेरे दर्शनोंका तो यह निश्चित मत है कि जीवन दुःखरूप ही है। अिसलिअे सुखकी तृष्णा मिथ्या प्रयत्न ही है; ज्यादासे ज्यादा दुःखका नाश ही किया जा सकता है, और अैसा विरले व्यक्ति ही कर सकते हैं; और वह भी प्रत्यक्ष रूपमें स्थूल दुःखोंको मिटा कर नहीं, बल्कि चित्तको अुनकी अवगणना करनेकी शिक्षा देकर ही किया जा सकता है। अुनके मतानुसार नित्य-सुखका वस्तुतः अभाव होनेके कारण अुसे ध्येय नहीं बनाया जा सकता। दूसरे कुछ दर्शन नित्य-सुखके अभावको नहीं मानते। वे अुसकी प्राप्तिको जीवनका ध्येय अवश्य मानते हैं, किन्तु वे भी अुसका दर्शन अिस भौतिक लोकमें नहीं, बल्कि अपने आध्यात्मिक जीवनमें और परलोकमें करते हैं। अुनकी रायमें भी यह भौतिक लोक तो दुःखरूप ही है।

जो बात अवतारी पुरुषों, बुद्धों, तीर्थंकरों, पैगम्बरों और अनेक ज्ञानी सद्गुरुओंने बजा बजा कर कही है, अुसमें श्रद्धा न रखने या शंका करनेकी साधारण मनुष्यमें ताकत ही कहां है? और जब यह बात मूढ़ जीव भी जानता है कि संसारमें दुःखका अनुभव होता ही है, तब फिर शंका करनेका प्रयोजन भी कहां रह जाता है?

परन्तु अिस बातमें श्रद्धा रखते हुअे, बोलते हुअे और अनुभव करते हुअे भी, जीवमात्रके मनमें सुख प्राप्त करने और जगत्में सुख पैदा करनेकी आशा अटल स्थान बनाये रहती है। कभी-कभी अैसे मनुष्य अवश्य मिल जाते हैं, जिनका मानो दुःखका अनुभव करनेके लिअे ही जन्म हुआ हो। परन्तु अैसा कोअी मनुष्य नहीं मिलता जो अपने-आपको केवल दुःख झेलनेके योग्य ही मानता हो। प्रत्येकको यही लगता है कि वह है तो सुखका पात्र, केवल कुछ अभागी घटनाओंके कारण जाने-अनजाने दुःखका पात्र बन गया है। परन्तु अुसे मनमें तो यह आशा रहती है कि कभी ये दुःखके दिन बीत जायंगे और सुख मिलेगा; और जब भी सुखप्राप्तिका कोअी अुपाय अुसे दिखाअी देता है, वह अुसे आजमानेके लिअे तैयार हो जाता है।

आत्माके स्वरूपकी व्याख्या करनेमें भिन्न-भिन्न दर्शनों और धर्मोंमें चाहे जितना फर्क हो, फिर भी आत्मा-अनात्मा-विवेक अथवा जीव-शरीर-भेद तो सभीमें किया जाता है और अुस पर जोर भी दिया जाता है। अमुक शक्तियां, भावनाअें, संस्कार, विषय आध्यात्मिक क्षेत्रके हैं और अमुक भौतिक क्षेत्रके; अमुक चीजें परलोककी हैं और अमुक चीजें अिस लोककी — अिस प्रकारका भेद करनेकी, अुसके अनुसार जीवनके आदर्शों और कर्मोंका विचार करनेकी और अुनके अभिमानका पोषण करनेकी रूढ़ि सब जगह है, और वह अिस रूपमें स्वीकार की गअी है मानो कोअी स्वयंसिद्ध सत्य हो। फिर भी, यह बात विचारने और समझने जैसी है।

यह बात तो हम सब समझ सकते हैं कि समुद्र और तरंगोंके बीच भेद है। तरंगोंको समुद्र नहीं कहा जा सकता, परन्तु तरंग समुदकी है यह समझना कठिन नहीं। फिर भी समुद्रसे अलग तरंगके दर्शन नहीं किये जा सकते, अुसकी कल्पना भी नहीं हो सकती। तरंगके बिना समुद्रकी कल्पना तो की जा सकती है, किन्तु अुसका दर्शन नहीं हो सकता। आप तरंगोंकी अेक, दो, तीन अैसी गिनती भले कर लें, परन्तु किसी तरंगको समुद्रसे अलग करके अुठा नहीं सकते। तरंगोंको पार करनेमें समुद्र लांघा ही जाता है, किन्तु यदि तरंगोंको पार किये बिना आप केवल समुद्रको पार करना चाहें तो वह नहीं हो सकता। अिसके विपरीत यदि आप समुद्र पार करनेका लक्ष्य न रखकर केवल तरंगों पर ही झूलें तो आप अूंचे-नीचे या आगे-पीछे हिल सकते हैं, लेकिन आगे नहीं बढ़ सकते। अिस प्रकार समुद्र और तरंगका अन्वय-व्यतिरेक है।

आत्मा और **देह**के बीच समुद्र-तरंग जैसा सम्बन्ध है। देहोंकी — अथवा भौतिक — शिक्षामें अेक तरहसे आध्यात्मिक शिक्षा भी हो ही जाती है। परन्तु देहोंकी अवगणना करके यदि आप केवल आध्यात्मिक प्रगति करना चाहें तो वह नहीं हो सकती। अिसके विपरीत आप अध्यात्मकी ओर लक्ष्य न रखकर सिर्फ दैहिक — भौतिक — प्रगति करना चाहें, तो आप अूंचे-नीचे या आगे-पीछे तो हिल सकते हैं, परन्तु प्रगति नहीं कर सकते।

अिस प्रकार आत्मा-अनात्मा-विवेकमें केवल दोके बीचकी विलक्षणता ही समझने जैसी चीज नहीं, बल्कि दोनोंके बीचका गाढ़ अन्वय भी ध्यानमें रखना आवश्यक है।

लेकिन दोनोंका खयाल रखनेवाले भी दोनोंके परस्पर ओतप्रोत सम्बन्धका खयाल रखना भूल जाते हैं। आध्यात्मिक जीवनका क्षेत्र अलग है और भौतिक जीवनका अलग है; अेकका विचार करते समय दूसरेको भूल जानेमें वे कोअी दोष नहीं देखते; अुलटे, अेकमें दूसरेको मिला देनेवाले दोषपात्र माने जाते हैं। गांधीजी पर लगाया जानेवाला यह आक्षेप तो जग-जाहिर है कि अुन्होंने सत्य, अहिंसा आदि आध्यात्मिक जीवनके गुणोंको भौतिक क्षेत्रमें दाखिल करके बड़ी अव्यवस्था पैदा कर दी है। अुसी प्रकार अैसे लोगोंको भौतिक विद्याकी खोजोंका अनुसरण करके अध्यात्म-ज्ञानके क्षेत्रमें आनेवाले विषयोंका संशोधन करनेमें भी अुतनी ही अरुचि रहती है। विज्ञानकी प्रयोगशालामें व्याख्यान देनेवाला शास्त्री और मंदिरमें प्रवचन करनेवाला शास्त्री — दोनों अेक ही व्यक्ति हो तो भी अुसका व्यवहार दो अलग-अलग व्यक्तियोंकी तरह रहता है। यह भी शरीर और आत्माके बीचका अन्वय न समझनेका परिणाम है। जैसा कि आचार्य जैक्सने कहा है :

"मनुष्यकी सर्वांगीण शिक्षा साधनी हो, तो सबसे पहले हमें भूतकालसे चले आ रहे अेक हानिकारक भ्रमको दूर करना होगा। वह भ्रम अिस मान्यतामें है कि मनुष्य शरीर और मन अिन दो अलग-अलग तथा जैसे-तैसे जुड़े हुअे अंशोंका बना हुआ है। अिन दोमें से बादमें मनरूपी अंशको ही दैवी मानकर अुसका शिक्षाके क्षेत्रमें समावेश किया जाता है। परंतु शरीरको अिहलौकिक पार्थिव वस्तु मानकर शरीर-विज्ञानियों या डॉक्टर-वैद्योंके लिअे छोड़ दिया जाता है। अिस भ्रमको हमें छोड़ना होगा और विकासकी हर सीढ़ी पर शरीर और मनको अेक अभेद्य अिकाअी मानकर अुनके समान तीव्र सहशिक्षणकी योजना गढ़नी होगी।" (पृ० १८-१९)

जीवनको अलग-अलग हिस्सोंमें बांट देनेकी आदत भौतिक शिक्षाके विभिन्न विषयोंमें भी फैली हुअी है। आचार्य जैक्स द्वारा अपनी शिक्षाका

दिया हुआ नीचेका वर्णन आजकी शिक्षा-पद्धति पर भी भलीभांति लागू होता है :

"हमारे शिक्षाशास्त्रियोंको मनुष्यके टुकड़े करके ही अपना काम करनेकी आदत पड़ी हुअी है और अिसलिअे अुनकी सारी प्रक्रिया टुकड़ोंमें ही होती है। सबसे पहले तो शिक्षाको अलग अलग 'विषयों' में बांट दिया जाता है, परंतु अुनके पीछे अैसा कोअी व्यापक हेतु नहीं होता जो अुन सबका अेकीकरण कर सके। ... शिक्षकोंका अेक वर्ग शालाके कमरेमें हमारे मनको तालीम देता; दूसरा वर्ग, जो बिलकुल असंस्कारी था, अखाड़े या खेल-कूदके मैदानमें हमारे शरीरोंको तालीम देता था, अेक तीसरा सद्गृहस्थ, जो धर्मशिक्षक कहलाता था, हमारे चरित्रका निर्माण करता था। ...परंतु अिन तीनोंमें अेक-लक्ष्यता बिलकुल न थी। मानसिक विभाग, शारीरिक विभाग, चरित्र-विभाग या आध्यात्मिक विभाग — अिन तीनोंके बीच जरा भी सहयोग न था। शालाके वर्ग, खेल-कूदके मैदान और धर्मपीठ — तीनों अेक-दूसरेकी सहायता करनेके बदले अेक-दूसरेके काममें अड़चन डालते थे। अिन सारी बिखरी हुअी प्रक्रियाओंमें शुरूसे आखिर तक अेक ही सत्य पर दुर्लक्ष्य किया जाता था और वह यह कि वास्तविक मनुष्य ... मन, शरीर, चरित्र और जीवात्मा — अिन सबके मेलसे बना हुआ है। .... हम कक्षामें, मैदानमें या चर्चमें जो कुछ भी अलग अलग पढ़ते थे, अुसे यथासंभव जोड़ने, अुसका अेकीकरण करनेका काम हम पर ही छोड़ा गया था। ..." (पृ० २५-२६)

अूपर 'मनको शिक्षा देनेवाले' जिन शिक्षकोंके वर्गका जिक्र किया गया है, अुनके 'विषयों' में भी समन्वय स्थापित कर देनेकी आशा नहीं की जा सकती। हम गणितके केवल तीन ही विभाग — अंकगणित, बीजगणित और भूमिति — लें, तो अंकगणितका जो प्रकरण वर्गमें आज पढ़ाया जाता है अुससे संबंध रखनेवाला बीजगणितका प्रकरण छह महीने या साल भर बाद भी पढ़ाया जा सकता है; और भूमितिका तो जब अुसकी बारी आये तब। अुसी प्रकार अितिहास तथा भूगोलका, विज्ञान तथा चित्रकारी आदिका है।

"शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान आदि भिन्न-भिन्न शास्त्रोंमें से अिकट्ठे किये हुअे टुकड़ोंको अेक-दूसरेके साथ जोड़कर या चिपटाकर प्राप्त की हुअी मनुष्य-विषयक कल्पनाके आधार पर शिक्षाकी योजना बनायें तो अुससे भारी गड़बड़ी ही पैदा होगी। आज हममें से कुछ वस्तुतः अैसा ही करते हैं। हमें तो मनुष्य-जीवनसे संबंध रखनेवाले सभी शास्त्रोंका समन्वय चाहिये, और वही वस्तु हमें अभी तक मिली नहीं है।" (पृ० ३१)

अिस कमीको पूरा करनेका प्रयत्न ही अिस पुस्तकका मुख्य अुद्देश्य है, और आचार्य जैक्सने जिस सुन्दर ढंगसे यह प्रयत्न किया है, वह 'शिक्षाशास्त्री' और 'साधारण पाठक' दोनोंके लिअे समान रूपमें बोधप्रद और विचारप्रेरक बन सकता है। आचार्य जैक्सने अिसे मनुष्यकी 'सर्वांगीण शिक्षा' कहा है। अुनके कुछ प्रतिपादन अिस प्रकार हैं:

१. ज्ञानमात्र आज्ञार्थक है। 'अैसा है, वैसा नहीं है' यह जानकारी न तो ज्ञान है और न शिक्षा, बल्कि ज्ञान तो 'अैसा करो, वैसा करो' की आज्ञा देगा और शिक्षा अुसकी आदत डालेगी।

२. "मनुष्यकी सर्वांगीण शिक्षा सिद्ध करनी हो तो ... मनुष्य शरीर और मन दो अलग अलग और जैसे-तैसे जुड़े हुअे अंशोंका बना हुआ है, अिस मान्यताके भ्रमको ... छोड़कर ... विकासकी हर सीढ़ी पर शरीर और मनको अेक अभेद्य अिकाअी मानकर अुनके समान तीव्र सहशिक्षणकी योजना गढ़नी" चाहिये। (पृ० १८–१९)

३. शिक्षा व्यक्तिके जीवनके अेक छोटेसे भागका कार्यक्रम नहीं है। वह तो जन्मसे मृत्युपर्यन्त चलनेवाली अेक अखण्ड साधना है। अुसे मनुष्यके हर काममें — मेहनत करते समय तथा फुरसतमें, सुखके तथा दुःखके प्रसंगोंमें — सिद्ध करना है और अुसके जरिये जीवनकी सफलता प्राप्त करना है। अुसमें देह या मन, धर्म-अर्थ-काम या 'मोक्ष' किसीकी भी अवगणना नहीं की जा सकती और न अेकको दूसरेसे अलग करके अुसके बारेमें विचार किया जा सकता है। अुसमें व्यवस्था, सुघड़ता और सुन्दरता भी होनी ही चाहिये। वह शिक्षा न तो श्रमकी विरोधिनी होगी और न फुरसतके समयका दुरुपयोग करेगी। वह जीवनमें अैसा ध्येय सिद्ध करनेवाली होनी चाहिये, "जिसके लिअे मनुष्यको मरनेके लिअे भी तैयार रहना चाहिये और जीनेके लिअे भी तैयार रहना चाहिये।"

यह तो अुनके प्रतिपादनोंका कुछ ही हिस्सा मैंने यहां पेश किया है। सारी पुस्तक अप्रचलित स्वतंत्र विधानोंसे भरी पड़ी है और विचारको अेक नअी ही दिशा प्रदान करती है। फिर भी यह तो नहीं कहा जा सकता कि अिस पुस्तकमें शिक्षा या जीवनका स्पष्ट और अन्तिम दर्शन मिल जाता है। क्योंकि जीवन अितना सर्वव्यापी है कि अुसका समूचा दर्शन संभव ही नहीं है। अेक कोनेसे अुसके छोटेसे हिस्सेका ही हमें आकलन होता है। अुदाहरणके लिअे, हमारे सभी दर्शन आज भी मनुष्यको विश्वसे तथा समूचे मानव-जीवनसे भी अलग किया जा सकनेवाला अेक स्वतंत्र व्यक्ति मानकर ही अुसका निरूपण करते हैं। मोक्ष और भोग, अुद्धार और बन्धन, अुन्नति-विकास-प्रगति या अवनति, ह्रास और निष्फलता — अिन सबमें हम व्यक्तिको ही अिकाअी मानकर विचार और आचरण करते हैं। प्रत्यगात्मा तथा ब्रह्मके वस्तुतः अभेदका प्रतिपादन अवश्य हुआ है, परंतु फिर भी हम किसी न किसी रूपमें प्रत्यगात्माके ब्रह्मसे भिन्न अस्तित्व, विकास, बंधन, मोक्ष आदिको भूल नहीं सकते। नतीजा यह है कि जैसे शिक्षाके संबंधमें विचारे जानेवाले भिन्न भिन्न विषयोंके बीच हम समन्वय नहीं साध सकते, वैसे ही व्यक्तियों और समाज, समाजों और समग्र मानव-जीवन तथा मानव-जीवन और विश्व-जीवनके बीच हम समन्वय नहीं साध सकते। पहले समन्वयके अभावमें हर मनुष्यके मनमें ही रात-दिन झगड़ा चला करता है; दूसरे समन्वयके अभावमें बाह्य संसारमें भी झगड़ा चला ही करता है। यह समन्वय कर देनेवाला दर्शनशास्त्र तो जब बनेगा तब बनेगा। लेकिन अैसी पुस्तकोंको अुस खोजकी ओर बढ़ानेवाली सीढ़ियोंके रूपमें माना जा सकता है। यों कहकर मैं अिस पुस्तककी कीमत घटा नहीं रहा हूं, बल्कि यही बतलाना चाहता हूं कि सत्यकी खोज कितनी गहन है।

'शिक्षण अने साहित्य', अगस्त १९४२

२

अुच्च शिक्षा

गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी या विद्यासभाने अेक शताब्दी पूरी की, यह गुजरातके लिअे गौरवकी बात है। अिस प्रकारकी पुरानीसे पुरानी संस्था गुजरातमें शायद यह पहली ही है। मैं व्यक्तिगत रूपमें विद्यासभाके गाढ़ संपर्कमें आया हूं, यह तो नहीं कहा जा सकता। परंतु गुजरातके जिन महान विद्वानोंने अिसकी नींव डाली और अिसका सिंचन करके बड़ी लगन और अुद्यमके साथ अिसे परिपुष्ट किया, अुनकी दूर तक फैली हुअी जीवन-सुगन्धने, अुनके प्रेरणादायक साहित्यने और अुनकी निष्ठापूर्ण साहित्य-सेवाने मुझ पर अनेक शुभ संस्कार डाले हैं, मेरा साहित्य-रस बढ़ाया है, और जिस जमानेमें मातृभाषाका ज्ञान हाअीस्कूलों और कॉलेजोंमें मिल ही नहीं सकता था, जिसे रस होता अुसे खानगी अध्ययन और अभ्याससे ही वह ज्ञान बढ़ाना पड़ता था, अुस जमानेमें मूल गुजरातके बाहर जीवन बितानेवाले मुझको गुजराती पढ़नेका शौक लगानेमें तथा शुद्ध गुजराती लिखनेका आग्रह रखनेवाला बनानेमें अिस सभामें शरीक हुअे अनेक विद्वानोंने बहुत ही बड़ा योग दिया है। कवीश्वर दलपतराम डाह्याभाअी, या श्री महिपतराम नीलकण्ठ, श्री नवलराम पंडित, श्री रमणभाअी, या श्री विद्याबहनके भी व्यक्तिगत संपर्कमें आनेका मुझे सौभाग्य मिला है, यह नहीं कहा जा सकता। श्री रमणभाअीको मैंने देखा है, सुना है, अेकाध बार अुनकी दृष्टिमें भी आया हूं। श्री विद्याबहनको तो मैंने देखा भर है। परंतु अिन सब विद्वानोंके साहित्य द्वारा मुझे गुजरात और अर्वाचीन गुजराती भाषाका ज्ञान मिला है, और अेक गुजरातीके रूपमें मेरा निर्माण हुआ है। गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटीने जो साहित्य प्रकाशित किया है, और अुसे प्रकाशित करनेके लिअे जो सुव्यवस्था कर रखी है तथा अुसे सौ वर्ष तक सतत चलाये रखा है, वह व्यवहार-कुशल और चतुर माने जानेवाले गुजरातके लिअे भी साधारण बात नहीं है।

राजनीतिक और धार्मिक नेताओंकी अपेक्षा साहित्यके अग्रगण्य लोगोंमें स्पर्धाकी भावना और संस्थाको तोड़नेवाला स्वभाव कम नहीं होता। गुजरात विद्यासभाको अिस स्वभावसे परेशान होना पड़ा है या नहीं, यह मैं नहीं जानता। परंतु अुसे अपनी शताब्दी मनानेका सौभाग्य मिला है, अिससे अितना तो साफ जाहिर होता है कि विघ्नोंको पार करके जीवनका धारण और पोषण करनेकी अुसमें बहुत बड़ी शक्ति है। अिसका श्रेय अुसके मूल स्थापकों और दाताओंके शुद्ध संकल्प, शुद्ध चरित्र और शुद्ध जीवनको ही देना होगा। कवि दलपतरामसे लेकर श्री विद्याबहन तकके लोगोंकी स्थिर धर्मभावना और नीरोग दीर्घायुके साथ साथ जीवनको रसपूर्ण रखनेवाली अुनकी सरलता, गंभीरता तथा शुद्ध विनोदी वृत्तिने वर्नाक्युलर सोसायटीको अैसा यश प्रदान करनेमें अवश्य ही बड़ा हिस्सा लिया होगा।

अिसके लिअे मैं गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटीको आदरके साथ बधाअी देता हूं, और आशा करता हूं कि भावी पीढ़ी गुजरातकी अिस सुन्दर संस्थाको अखण्ड, शुद्ध मार्ग पर प्रगतिशील और प्राणवान बनाये रखेगी तथा अिसकी कीर्तिको बढ़ायेगी। अिस संस्थाके प्रति मेरे मनमें जो आदर है, अुसे व्यक्त करनेके लिअे मुझे जो मौका दिया गया है, अुसके लिअे मैं श्री विद्याबहनका अन्तःकरणसे आभार मानता हूं।

अिस प्रसंग पर अेक भाषण लिख भेजनेके लिअे श्री विद्याबहनने मुझसे कहा था। अुनकी अिस अिच्छाको आज्ञारूप न मानना मेरे लिअे कठिन हो गया। लेकिन मुझे क्या कहना चाहिये, यह मैं निश्चित न कर सका। अभी मेरे विचारोंका मुख्य विषय यही है कि 'हरिजन' पत्रोंमें क्या कहा या लिखा जाय। अिसलिअे जब अन्यत्र कहीं बोलने-लिखनेका प्रसंग आता है, तो मैं परेशान हो जाता हूं। मैंने श्री विद्याबहनसे ही विनती की कि वे अपनी आज्ञाको पूर्ण बना कर विषय भी सुझावें। अुन्होंने दो विषय सुझाये : युनिवर्सिटीकी रचना या युनिवर्सिटी शिक्षाका माध्यम। मैंने अुस आज्ञाको सिर-माथे पर लेकर अिन दोनों विषयोंको अिकट्ठा करके 'अुच्च शिक्षा' के बारेमें कहनेका विचार किया है।

संभव है मैं यहां जो कुछ भी कहूंगा, अुसका बहुत-कुछ भाग पहले कहीं और कभी कह चुका होअूं। अुसमें नया शायद ही कुछ हो। यहां पर मैं अुसे सिर्फ कुछ व्यवस्थित करके ही रख दूंगा।

मुझे शुरूमें ही कह देना चाहिये कि अुच्च शिक्षाके बारेमें आज जिस दिशामें प्रवाह बह रहा है, अुससे भिन्न दिशामें मेरे विचार बहते हैं। अिस शताब्दीके आरंभमें श्री गोपाल कृष्ण गोखलेने जब बड़ी धारा-सभामें अनिवार्य प्राथमिक शिक्षाका बिल पेश किया, तब मैं मैट्रिक या कॉलेजमें था। अुस समय प्राथमिक शिक्षाके संबंधमें तत्कालीन विचारकों और लेखकोंका कुछ साहित्य मेरे पढ़नेमें आया था। और तबसे अुच्च शिक्षाकी अपेक्षा प्राथमिक शिक्षामें मेरी दिलचस्पी बढ़ती गअी। मेरी यह श्रद्धा या विचारधारा लगभग १९०७ से ही बन चुकी थी कि हिन्दुस्तानकी सुलझाने योग्य समस्या और अच्छी तरह विकसित करने योग्य प्रवृत्ति अुच्च शिक्षा नहीं, बल्कि प्राथमिक शिक्षा है। चालीस वर्ष बाद भी मेरी अिस श्रद्धा और विचारधारामें तत्त्वतः कोअी फर्क नहीं पड़ा है। हां, अुसके विशिष्ट स्वरूपसे संबंध रखनेवाले विचारोंमें बहुत-कुछ फेरफार हुआ है।

गुजरात जानता है कि अुस समय मैं स्वामिनारायण संप्रदायका पक्का अनुयायी था। अिस संप्रदायकी विपुल साधन-संपत्तिसे मैं परिचित था। मेरी यह महत्त्वाकांक्षा थी कि अिस संप्रदायकी ओरसे अेक विशाल शिक्षण-संस्था स्थापित की जाय और मेरी कल्पनाके अनुसार प्राथमिक शिक्षासे लेकर क्रमशः अूंची चढ़नेवाली शिक्षाकी प्रवृत्ति सब जगह शुरू की जाय; और अैसा हो तो मैं अपना जीवन अैसी संस्थाको समर्पित कर दूं।

स्वामिनारायण संप्रदायके प्रति मेरे मनमें जो निष्ठा थी, अुसमें मेरे अपने श्रेयकी अिच्छाके अलावा अिस आकांक्षाका भी भाग रहा होगा। गुजराती भाषा तथा कुछ अंशमें संस्कृत भाषाका रस पैदा होनेमें तथा कॉलेजके विषयोंमें विज्ञान तथा अर्थशास्त्रकी पसंदगीमें भी वह कारणभूत रही होगी। लेकिन अुस वक्त तो मुझे परिस्थितियां वकालतके धंधेकी ओर खींच कर ले गअीं; और यह अिच्छा तब तक मनमें ही मनोरथ निर्माण

करती रही, जब तक गांधीजीकी राष्ट्रीय गुजराती शालाके बारेमें मैंने सुन नहीं लिया।

मनमें विचार थे, अनुभव बिलकुल नहीं था, किसीको कभी खानगी रूपमें भी नहीं पढ़ाया था, अिससे मार्गदर्शककी जरूरत तो थी ही। अिसलिअे जब मुझे अेक ओर सार्वजनिक जीवनमें शरीक होनेके लिअे पारिवारिक अनुकूलता मिली और दूसरी ओर गांधीजीने मुझे राष्ट्रीय गुजराती शालामें शामिल होनेके लिअे कहा, तो अुस संबंधमें निर्णय करनेमें मुझे बहुत समय न लगा।

गांधीजीका भी सारा जोर प्राथमिक शिक्षा पर ही था; और अिस संबंधमें मैंने जो अस्पष्ट विचार गढ़ रखे थे, अुनकी गांधीजीके पास संशोधित और स्पष्ट योजना थी। अुसमें स्वामिनारायण संप्रदाय तो नहीं था, किन्तु अुसके अलावा मैंने जो कुछ भी सोच रखा था अुससे बहुत ज्यादा और मुझे पसन्द आये अैसा सब-कुछ था।

अुस शालाका काम करते-करते गुजरात विद्यापीठका जन्म हुआ। अुसका क्षेत्र केवल अुच्च शिक्षाकी मर्यादामें ही नहीं था। अुसमें प्राथमिक शिक्षासे लेकर अुच्च शिक्षा तकके संपूर्ण शिक्षण-क्षेत्रका खयाल रखा गया था। संयोगवश अुसका जन्म असहयोगके राजनीतिक आन्दोलनके अंगके रूपमें हुआ। अिसलिअे प्राथमिक, माध्यमिक और अुच्च तीनों क्षेत्रों और तीनों प्रकारकी संस्थायें अुसके हाथमें शुरूसे ही आ गअीं। लेकिन राजनीतिक परिस्थितियोंने अिसमें जो भाग लिया, अुसके परिणामस्वरूप अुसके संचालनमें महाविद्यालय और विनय-मंदिरका महत्त्व प्राथमिक शालाओंकी अपेक्षा बढ़ गया। यह अनिवार्य था; किन्तु अुससे विद्यापीठकी प्रवृत्तिमें मेरी दिलचस्पी घट गअी, और दिलचस्पीके बिना महामात्रका काम करनेसे मैं दूसरे कार्यकर्ताओंके मार्गमें बाधक भी बन गया। गुजरातकी सेवा करनेकी अिच्छासे आया हुआ परदेशी-जैसा मैं गुजरातके मार्गमें बाधाअें अुत्पन्न करनेवाला बनूं, यह बात मुझे अखरी और मैं अन्तर्मुख हो गया। व्यक्तिगत रूपमें अुस समय मेरे जीवनका रस भी अधिकाधिक आध्यात्मिक चिन्तनकी ओर बढ़ता जा रहा था, अिसलिअे कुछ ही महीनोंमें मैं गांधीजीकी अिजाजत लेकर विद्यापीठसे अलग

हो गया और डेढ़-दो साल तक निवृत्त रहा। बादमें सरदार पटेलकी अिच्छाको मान कर मुझे फिरसे महामात्रका पद स्वीकार अवश्य करना पड़ा, और दो-तीन वर्ष मैंने अुस पद पर काम भी किया, लेकिन अुस वक्त मैं बहुत-कुछ बदला हुआ मनुष्य था और वातावरण तथा परिस्थितियां भी बदली हुअी थीं। अुस समय शिक्षा-संबंधी मेरे विचार विशेष परिपक्व हो गये थे, किन्तु मेरे दुराग्रह जैसे मालूम होनेवाले आग्रह मिट गये थे ; और मैं, जो झगड़ा करनेवाला और हठीला माना जाता था, अैसा बन गया कि अपने साथियोंको पसन्द आ सकूं।

परंतु दिनोंदिन राजनीतिक वातावरण बदलता जा रहा था, असहयोगका जोश ठंडा पड़ता जा रहा था और अुच्च शिक्षा तथा विनय-मंदिरोंके लिअे खूब श्रम और धन खर्च करने पर भी ये संस्थाअें बन्द होती या अलग होती जा रही थीं। अिसे रोक सकना किसी तरह संभव नहीं था। अुलटे, राजनीतिक दृष्टिसे आये हुअे आचार्य और अध्यापक राजनीतिक आन्दोलनका रूप बदलते ही खुद अुसमें बह गये, और विद्यापीठ क्षीणप्राय हो गया। बंबअी युनिवर्सिटी और हाअीस्कूलोंके प्रतिस्पर्धियोंके रूपमें पैदा हुअे महाविद्यालय और विनय-मंदिर बन्द हो गये और अुतने ही क्षेत्रको राष्ट्रीय शिक्षण माननेवाला राष्ट्रीय शिक्षणका कार्य भी बन्द हो गया।

मेरा पहलेसे ही यह मत था कि बम्बअी युनिवर्सिटी या हाअी-स्कूलोंकी प्रतिस्पर्धामें गैर-सरकारी संस्थायें चलाना राष्ट्रीय शिक्षाका सच्चा कार्य या क्षेत्र नहीं है। मेरी कल्पनाके गुजरात विद्यापीठके लिअे कुछ करने जैसा हो तो वह नये ढंगसे सार्वत्रिक प्राथमिक शिक्षणके क्षेत्रमें ही था और है।

फिर भी, गुजरात विद्यापीठने जितने समय तक विनय-मंदिर और महाविद्यालयके क्षेत्रमें काम किया, अुतने समयमें अुसने शिक्षाके अुस क्षेत्रमें भी शिक्षाकी दृष्टिसे बहुत ही अच्छा योग दिया और कुछ सिद्धान्तोंको सर्वमान्य करवानेमें वह सफल हुआ। अुदाहरणके लिअे :

१. चाहे जैसी अुच्च शिक्षा गुजरातीके द्वारा देनेमें बड़ी कठिनाअी नहीं है, यह अिसने जितने विषयोंमें निष्ठापूर्वक प्रयत्न किया

अुतनोंमें सिद्ध कर दिखाया। बेशक, सब विषयोंमें वह वैसा न कर सका, क्योंकि कुछ विषयोंके अध्यापक ही गुजराती नहीं थे। अतः अुनके लिअे यह असंभव था। लेकिन गुजराती भाषामें अुच्च शिक्षा किस तरह दी जा सकती है, यह भय गुजराती अध्यापकोंके मनसे निकल गया। बेशक, अुन्हें पाठ्यपुस्तकों या पारिभाषिक शब्दोंकी कमी मालूम हुअी, लेकिन अुन्होंने यह अनुभव न किया कि अुनके बगैर काम ही नहीं चल सकता। पढ़ाते-पढ़ाते अुन्होंने कुछ पुस्तकें भी लिखीं और पारिभाषिक शब्द भी बनाये। ये पुस्तकें पढ़ाअीके अनुभवके साथ तैयार की गअी थीं, अिसलिअे वे अंग्रेजी पाठ्यपुस्तकोंकी अनूदित रचनायें न रहीं। अुनके लिअे अंग्रेजी पुस्तकोंका आधार लिया गया था, फिर भी वे स्वतंत्र रचनायें ही थीं। पारिभाषिक शब्द भी कल्पित नहीं बनाये गये। वे अैसे थे कि विद्यार्थियोंकी जबान पर चढ़ जायं और गुजराती भाषाके साथ अुनका मेल बैठ जाय। वे अुपयोगमें आते-आते पैदा हुअे थे।

विद्यापीठकी प्रवृत्ति बहुत मन्द पड़ जाने पर भी अुसके प्रचलित किये हुअे बहुतसे शब्द समस्त गुजरातने अपनाये हैं और आज तक जीवित रहे हैं। पहले पाठ्यपुस्तकोंकी रचना हो, पारिभाषिक शब्द निश्चित हों, अुसके बाद ही स्वभाषा द्वारा शिक्षा दी जा सकती है — यह मान्यता मुझे मन्द पुरुषार्थ, आलस्य या वहमका चिह्न दिखाअी देती है। जो शिक्षक घरसे पाठ्यपुस्तकोंमें से पाठ रटकर लाते हैं और वर्गमें आकर अुगल देते हैं, अुन्हें ही स्वभाषाकी पाठ्यपुस्तकों और तैयार पारिभाषिक शब्दोंका अभाव बाधक मालूम हो सकता है। जिसे अंग्रेजी आती हो, जिसके पास अुस भाषाकी पाठ्यपुस्तकें हों, जिसे विषयका ज्ञान हो, अुसे यदि तुरंत पारिभाषिक शब्द न सूझें तो वह अुन शब्दोंके लिअे अंग्रेजी शब्दोंका अुपयोग कर सकता है। किन्तु अपनी भाषामें विषय समझानेका आत्म-विश्वास तो अुसमें होना ही चाहिये ; और यदि वह आजमा कर देखे तो दो-चार बार प्रयत्न करनेसे सफल भी हो सकता है। अिससे अुसे अपनी पढ़ानेकी तथा विद्यार्थियोंकी ग्रहण करनेकी शक्ति भी बढ़ती हुअी दिखाअी देगी। पारिभाषिक शब्दोंकी रचनामें तो विद्यार्थी भी मदद कर सकते हैं। दूसरे शिक्षक तो करते ही हैं। संभव है अेक ही विषय

पढ़ानेवाले भिन्न-भिन्न महाविद्यालयोंमें भिन्न-भिन्न पारिभाषिक शब्द रचे जायं। वे शब्द परस्पर पत्र-व्यवहार या अुस संबंधमें चलनेवाले मासिकके द्वारा सुधर सकते हैं। विद्यापीठ अुन्हें अिकट्ठा करने और अुनमें से चुनाव करनेका काम भी कर सकता है। संक्षेपमें कहा जाय तो पाठ्यपुस्तकों और पारिभाषिक शब्दोंकी रचना पहले हो और शिक्षाके माध्यमको बदलनेका विचार बादमें, अिस क्रमको यदि हम अुलटा न कहें तो भी अिसे अनावश्यक शर्त तो कहना ही होगा।

२. गुजरात विद्यापीठकी प्रवृत्तिने गुजरातकी यदि दूसरी कोअी सेवा की हो, तो वह गुजराती भाषाका गौरव बढ़ानेकी है। अंग्रेजोंकी तरह ही अंग्रेजी भाषा लिखना और बोलना आना चाहिये — अिसका हमारे पढ़े-लिखोंको मोह रहता था; और जिसे अच्छी तरह अंग्रेजी लिखना-बोलना आता, अुसे अिसका घमण्ड भी रहता था। लेकिन अगर वह गुजरातीमें चार वाक्य भी शुद्ध न लिख सके, तो अिसके लिअे न तो अुसे शर्म आती थी, न अिसका अुसे भान ही रहता था। अैसी हमारी स्थिति थी। यदि कोअी Seen का अुच्चारण या हिज्जे Sin जैसा करता, Law का अुच्चारण Lo जैसा करता, या किसीके मुंहसे I had went निकल जाता, तो अुसकी अैसी हंसी अुड़ाअी जाती कि वह शर्मसे गड़ जाता था। लेकिन ये हंसी अुड़ानेवाले 'शिला' और 'शीला' का या 'सीमन्त' और 'श्रीमन्त' का भेद नहीं समझते थे तथा 'स्थित' की जगह 'स्थगित' का अुपयोग करते थे; और अिसका अुन्हें खयाल तक न होता था, न लज्जा ही आती थी। मैं मानता हूं कि अिस स्थितिको बदलनेमें गुजरात विद्यापीठके स्नातकोंकी विशेष शुद्ध भाषाने अच्छा काम किया है। अिसके कारण गुजरातियोंको यह भान हुआ कि हमारी मातृभाषाका शुद्ध न होना हमारा अेक बड़ा दोष है।

युनिवर्सिटीकी परीक्षाओं वगैराकी पद्धतियोंमें भी गुजरात विद्यापीठके अुदाहरणसे बहुत कुछ सुधार हुअे।

फिर भी यह बात मुझे कभी नहीं जंची कि बम्बअी युनिवर्सिटीकी समकक्ष अेक दूसरी गैर-सरकारी युनिवर्सिटी खड़ी करना राष्ट्रीय शिक्षाका मुख्य कार्य है। बम्बअी युनिवर्सिटी आम जनताके अुपयोगकी शिक्षण-संस्था

नहीं है। वह कुछ विशेष प्रकृति और रुचिके लोगोंके लिअे है और कुछ चुने हुअे क्षेत्रोंमें अुपयोगी सिद्ध होनेवाली शिक्षा देती है। आम जनताके अुपयोगकी बचपनसे लेकर अूंची कक्षा तककी शिक्षा देनेवाली कोअी संस्था न होनेके कारण और युनिवर्सिटी शिक्षाकी बहुत प्रतिष्ठा और अेक समय बहुत कीमत होनेके कारण आवश्यकतासे अधिक तरुण अुसकी ओर खिंचे और अभी तक भी खिंचते जा रहे हैं। नतीजा यह है कि अेक ओर स्कूल और कॉलेज बढ़ते जा रहे हैं, फिर भी जितने विद्यार्थी अुनसे लाभ अुठाना चाहते हैं और परीक्षाओंके परिणामोंके अनुसार योग्य ठहराये जाते हैं, अुनके लिअे वे काफी नहीं होते; और दूसरी ओर यह शोर मचा रहता है कि स्कूल-कॉलेजोंकी शिक्षा संतोषजनक नहीं है, अुससे बेकारोंकी संख्या ही बढ़ती है। दूसरी आश्चर्यकी बात यह है कि जितने विद्यार्थी परीक्षाओंमें बैठते हैं, अुनमें से किसी परीक्षामें अठारह-बीस प्रतिशत ही पास होते हैं; किसीमें तीस-पैंतीस प्रतिशत; तो किसीमें पचाससे साठ प्रतिशत तक। जब पचाससे साठ प्रतिशत तक परिणाम निकलता है तब हम अुसे संतोषजनक मानते हैं; तीससे पैंतीस प्रतिशत तक हो तो जरा असंतोष व्यक्त करते हैं; और अिससे भी कम हो तो शिकायत करते हैं। पचाससे साठ प्रतिशत परिणामसे हमें संतोष होता है, अिससे मालूम होता है कि हम भी यही मानते हैं कि विद्यार्थियोंका अेक-तिहाअीसे ज्यादा भाग या तो युनिवर्सिटी शिक्षाके योग्य नहीं है या वह शिक्षा विद्यार्थियोंके लिअे योग्य नहीं है। मतलब यह कि अेक-तिहाअी या अिससे ज्यादा विद्यार्थियोंका या अुनके लिअे लगनेवाले धन, श्रम और समयका दुरुपयोग होता है। अितना सब अपव्यय होनेके बावजूद हम अिस परिणामको संतोषजनक मानते हैं, अिससे यही सिद्ध होता है कि संतोष पानेका हमारा मापदण्ड कितना छोटा है। असलमें तो यदि विद्यार्थियोंको योग्य प्रकारकी शिक्षा मिले, और वे वही शिक्षा लेते हों जो अुनके योग्य है, तो लगभग शत-प्रतिशत नहीं तो नब्बे-पंचानवे प्रतिशत विद्यार्थी क्यों पास न होने चाहिये? पांच-दसके लिअे यह माना जा सकता है कि संयोगवशात् वे किसी परीक्षामें असफल रहें। किसी स्विमिंग बाथमें सौ मनुष्य तैरना सीखनेके लिअे दाखिल होना

चाहें, अुन्हें दाखिल किया जाय, सारा पाठ्यक्रम पूरा किया जाय और अन्तमें जब परीक्षा ली जाय तब यह परिणाम निकले कि चालीस प्रतिशत विद्यार्थियोंको अभी तैरना नहीं आया, तो अुसका क्या अर्थ किया जायगा? अुसका अर्थ मेरे विचारसे यही होगा कि या तो ये चालीस प्रतिशत भरती होने पर भी तैरना सीखनेके लिअे नहीं जाते थे, या फिर किसीने अुन्हें तैरना नहीं सिखाया। चूंकि अुन्हें परीक्षामें बैठने दिया गया है, अिसलिअे यह तो नहीं कहा जा सकता कि वे तैरना सीखनेके लिअे नहीं जाते थे। वे बराबर हाजिर न रहे होते तो अुन्हें परीक्षामें बैठनेकी अिजाजत ही नहीं दी जाती। अिसलिअे दूसरा ही अर्थ करना होगा कि जितने विद्यार्थियोंको भरती किया जाता है अुतने विद्यार्थियोंको सिखानेके लिअे वहां ठीक व्यवस्था नहीं है। अुसी प्रकार जिस संस्थामें चालीस-पचास प्रतिशत विद्यार्थी हर साल नापास होते हैं, अुसमें पढ़ाअीकी व्यवस्था ठीक नहीं है अिसके सिवा और क्या कहा जा सकता है?

अिसका कारण भी है। हमारी शिक्षा-पद्धति यांत्रिक है। 'गुरु प्राज्ञ और जड़ दोनोंको समान रूपमें विद्या देता है'—अिस प्राचीन प्रणालीका अनुसरण हमारी शिक्षा-संस्थायें करती हैं। मतलब यह है कि गुरु ग्रामोफोनका रेकार्ड बनकर बैठता है, और विद्यार्थी अुस रेकार्डको सुनकर जितना योग्य समझता है अुतना बोध लेता है अथवा नहीं भी लेता। जब रेकार्ड बजता है तब ग्रामोफोनको यह नहीं मालूम होता कि अुसे सुननेवाले दरअसल सुनते हैं या नहीं, अथवा कितना सुनते हैं। अुसकी तो चाबी भर दी जाती है, अिसलिअे वह बजता रहता है। कॉलेजके अध्यापककी भी क्या यही स्थिति है? बिलकुल अैसी तो नहीं है, फिर भी अितना निश्चित है कि शिक्षा-संस्थाओंमें बहुत कम अध्यापकोंमें गुरुकी योग्यता होती है; अुनमें और विद्यार्थियोंमें गुरु-शिष्य भाव ही पैदा नहीं होता। किसी योग्य अध्यापकके साथ प्रतिवर्ष जिन दो-चार विद्यार्थियोंका अैसा संबंध बंधता है, अुतने ही सच्चा लाभ अुठाते हैं। शेष तो अध्यापक अपने-आपको ग्रामोफोनकी तरह बजा देते हैं, अुसमें से जितना अच्छा लगता है अुतना ले लेते हैं; बादमें अध्यापक अपनी राह और विद्यार्थी अपने शौकोंकी राह चले जाते हैं।

विद्यार्थियोंके सच्चे गुरु कौन होते हैं, यह बाल-मंदिरसे लेकर यूनिवर्सिटी तककी संस्थाओंके विद्यार्थियोंके जलसोंमें स्पष्ट हो जाता है, तथा अुनके रोजके चलने-फिरने और शरीर-शृंगार वगैरासे प्रकट हो जाता है। सिनेमाके नट-नटी, नृत्यकार, गायक और कहानी-लेखक विद्यार्थी-समाजके हृदयमें समाये हुअे गुरु हैं। अुनकी सच्ची युनिवर्सिटियां थियेटरोंमें हैं। अुन्हें देखकर वे अपनी आकांक्षायें गढ़ते हैं, रुचि-अरुचिका निर्माण करते हैं; अर्थात् अपना चरित्र गढ़ते हैं। स्कूल या कॉलेज तो अुनके लिअे केवल 'क्लास' या वर्ग हैं। यानी जैसे कोअी हिसाबनवीसीके क्लासमें जाते हैं, कोअी शॉर्टहैण्डकी क्लासमें जाते हैं, कोअी सिलाअीकी क्लासमें जाते हैं, अुसी तरह विद्यार्थियोंका अेक बड़ा समूह स्कूल और कॉलेजकी क्लासोंमें जाता है। अुसमें अुनका अुद्देश्य कमाअीका कोअी साधन प्राप्त करना ही रहता है। यदि कोअी हिसाबनवीसी, शॉर्टहैण्ड या सिलाअीकी क्लासमें गया हो और वहांका प्रमाणपत्र भी अुसने प्राप्त किया हो, किन्तु यदि वह हिसाब-किताब लिखकर न बतला सके, शॉर्टहैण्डमें पत्र न लिख सके या कपड़े न सी सके, तो अुसके प्रमाणपत्रकी कोअी कीमत नहीं होती। काम देखकर ही अुसकी कीमत होती है। लेकिन स्कूलों और कॉलेजोंके प्रमाणपत्रोंकी हमने पहलेसे ही प्रतिष्ठा मान रखी है। अिससे भ्रम बढ़ता है और विद्यार्थी वहांसे पूरा ज्ञान प्राप्त किये बिना ही वहांका प्रमाणपत्र हासिल करनेके लिअे अधीर हो जाते हैं।

अिसके अलावा, शिक्षाकी अेक अुलटी व्यवस्था बन गअी है। अुच्च शिक्षाकी व्यवस्था करते समय विद्वान अध्यापक जवाहरलाल नेहरू, राधाकृष्णन्, चन्द्रशेखर व्यंकटरमनको आदर्श बनाते हैं। कुशाग्र बुद्धिके विद्यार्थी बीस-बाअीस वर्षकी अुम्रमें जितना सीख सकते हैं अुतना सभी विद्यार्थी सीख सकते हैं, यों मानकर अुन्होंने बी० अे० की पढ़ाअीमें बीसवें वर्ष तक जितने विषय अच्छी तरह ग्रहण कर लिये थे वे सब विषय अुस आयु तक सभी विद्यार्थियोंको सिखाये जाने चाहिये और अुन्हें आने ही चाहिये, अिस खयालसे बी० अे० का स्तर तय किया जाता है। अिसके बाद यह ठहराया जाता है कि विद्यार्थीको चार वर्षमें अितना

पढ़ाया जाना चाहिये। अुसके आधार पर यह तय किया जाता है कि यह सब चार वर्षमें पढ़ लेनेके लिअे विद्यार्थीको कितनी तैयारी करके वहां जाना चाहिये। यही मैट्रिकका पाठ्यक्रम बनता है। यह पाठ क्रम १६ वर्षकी अुम्रमें पूरा हो जाना चाहिये, अैसा मानकर अुसका ६ से १६ वर्षके बीच बंटवारा किया जाता है। यों अूंचाअीका स्तर और होशियार विद्यार्थीकी अुम्र निश्चित करके हम अुसके नीचेके हिस्से करते हैं। अिसका परिणाम यह हुआ है कि शिक्षाका विकास वृक्षकी तरह बीजमें से अूपर नहीं बढ़ता, बल्कि जैसे जैसे विद्यायें अूपर बढ़ती और विकसित होती जाती हैं, वैसे वैसे अुसका नीचेका बंटवारा करनेकी व्यवस्था बदलती जाती है, और वही प्राथमिक, माध्यमिक आदि शिक्षाका रूप लेती है। यह शिक्षा मुट्ठीभर लोगोंके लिअे ही अुपयोगी होती है, और अुसका सदुपयोग तो और भी कम लोग करते हैं। लेकिन अुसके वितरणका प्रयत्न अिस ढंगसे किया जाता है, मानो वह शिक्षा सभीके लिअे हो।

राष्ट्रीय शिक्षाके नामसे शिक्षाका जो स्वरूप रचनेके लिअे गांधीजी और अुनके साथियोंने आश्रममें प्रयत्न किया, वह अिससे अलग ढंगका है। अुसका ध्येय यह नहीं है कि सौमें से दो-चार बहुत ही कुशल विद्यार्थियोंको खोज निकाला जाय और अुन्हें पारंगत या 'रेकार्ड-ब्रेकर्स' बनाया जाय, बल्कि वह तो अैसी शिक्षा है जो किसीको भी अपने दायरेसे अलग नहीं रखती तथा जिससे सबको आवश्यक योग्यता मिल ही जाती है। यह बात मैं अेक दूसरे अुदाहरणसे समझाता हूं। व्यायामशालाके दो प्रकारके ध्येय हो सकते हैं : अेक यह हो सकता है कि बहुतसे विद्यार्थियोंमें से नाम कमावें अैसे दो-चार पहलवान तैयार करना, जो तैरनेमें, दौड़नेमें, कूदनेमें या कोअी दूसरी शारीरिक शक्तिमें दुनियाके पहले दो-चार लोगोंमें आवें और तमगे तथा अिनाम प्राप्त कर सकें। अैसी व्यायामशाला अिन दो-चार विद्यार्थियोंकी दृष्टिसे सब विद्यार्थियोंके लिअे कसरतका पाठ्यक्रम बनायेगी। अैसे विद्यार्थी विरले ही निकलेंगे, लेकिन अुनके लिअे वह अपनी सारी शक्ति खर्च करेगी। दूसरे विद्यार्थी अुनके साथ नहीं चल सकेंगे, अुलटे हैरान होंगे, या फिर अुनकी ओर ध्यान नहीं दिया जा सकेगा। युनिवर्सिटी शिक्षाकी आज अैसी ही

हालत हो गअी है। दूसरी व्यायामशाला 'रेकार्ड-ब्रेकर्स' निर्माण करनेका ध्येय ही नहीं रखती। वह मानती है कि अैसे विद्यार्थी अपना स्थान आप खोज लेंगे। कोअी जवाहर अनुकूल परिस्थिति न मिलनेके कारण दबा हुआ रह जाय, तो भी अुसे वह खास चिन्ताका विषय नहीं मानेगी। अुसका ध्येय यह होगा कि किसी भी संपूर्ण अवयवोंवाले मनुष्यको शरीरकी अमुक योग्यता रखनी ही चाहिये। अमुक समय तक काम करनेकी, अमुक दूरी तक अमुक तेजीसे चलनेकी, दौड़नेकी, या बोझ अुठानेकी शक्ति हरअेकमें होनी ही चाहिये ; अमुक हद तक श्रम करनेकी आदत सबको होनी ही चाहिये ; अमुक रूपमें सबके स्नायुओंका विकास होना ही चाहिये। अिसलिअे अुस व्यायामशालाके संचालक अैसे स्तर निश्चित करके, जिन तक सभीको पहुंचना ही चाहिये, सबको शिक्षण देंगे। जो शिक्षा लेनेके योग्य हैं वे तो अुसमें नापास होंगे ही नहीं ; हां, कुछ अुनसे आगे भले निकल जायं।

अिस प्रकार दुनियामें मनुष्योंकी बहुत बड़ी संख्याको शरीर-श्रम और मेहनत-मजदूरी तथा अुत्पादक धंधे ही करने होंगे। कारकुनों, शिक्षकों, वकीलों, डॉक्टरों, अिंजीनियरों, राजनीतिज्ञों, बड़े अधिकारियों, मंत्रियों, नेताओं आदिकी संख्या कुल मिलाकर हजारके पीछे दो-तीन ही होगी। हमारे देशमें तो बहुत बड़ी संख्याको खेती करनी होगी, ग्राम-जीवन बिताना होगा और वहांकी मेहनत-मजदूरी कुशलता या अकुशलतासे करनी होगी। यह स्थिति होते हुअे भी हम अिस प्रकार शिक्षाका विचार करते हैं, अैसा आदर्श पेश करते हैं और अुसके पीछे सबको पागल बनानेका प्रयत्न करते हैं, मानो सभीको नेता बनना हो, सभीको फौजमें भरती होना हो, सभीको जगदीशचन्द्र और रवीन्द्रनाथ बनना हो। शिक्षाका यह मनोरथ बहुजन-समाजके लिअे निरुपयोगी और घातक है। शिक्षाकी योजना अैसे ढंगसे विचारी जानी चाहिये कि वह सबसे पहले तो जो प्रवृत्तियां सारे समाजको जीवनभर करनी होती हैं अुन्हें अुत्तम रीतिसे, शास्त्रीय ढंगसे करनेकी तालीम दे; मनुष्यके शरीर, मन, बुद्धि, चरित्र आदिको अुन प्रवृत्तियोंके अनुकूल बनाये; अुनमें अुसे आनन्द आये और कुशलता प्राप्त हो ; वह ग्रामवासी, नगरवासी, कुटुम्बीजन और समाजके

अेक व्यक्तिके रूपमें अच्छी तरह जीना सीखे। अुसमें स्वावलंबन और आत्म-विश्वास पैदा हो। वह नेता न बने, लेकिन स्वाभिमानी तो बने ही; वह अमीर न बने, लेकिन स्वाश्रयी बननेकी हिम्मत तो रखे ही। वह राममूर्ति न बने, लेकिन हाथ-पैरसे अपंग तो हरगिज न रहे। सबके लिअे अैसी योजना बनानेके बाद तथा लगभग सोलह वर्षकी अुम्रमें हरअेक स्वाश्रयी बन सके अितनी योग्यता अुसमें पैदा कर देनेके बाद जिसे शौक हो, सुविधा हो, बुद्धि हो, अुसके लिअे आगे बढ़नेकी व्यवस्था करे। अुसे अपने पसन्द किये हुअे अुद्योग, औद्योगिक विज्ञान या बौद्धिक विषयकी शिक्षा दे। तब यह प्रश्न ही न रहेगा कि अुन संस्थाओंका लाभ लेनेके लिअे जो प्रारंभिक ज्ञान आवश्यक है, अुसके लिअे आवश्यक तैयारी तथा बादमें अुसका संपूर्ण शिक्षण अुसे कितने समयमें पूरा कर लेना चाहिये। विद्यार्थी तीस वर्ष तक निष्णात बने तो भी कोअी हर्ज नहीं। अुसे यदि बीचमें कहीं रुकना हो तो रुक भी सकता है, क्योंकि वह अपने पिछले शिक्षाकालमें स्वाश्रयी तो बन ही गया है।

'बुनियादी तालीम' या 'वर्धा-योजना' के नामसे जो शिक्षा प्रख्यात हुअी है अुसका यही ध्येय है। 'बुनियादी तालीम' की योजनामें अुसके मुद्दे जितने स्पष्ट रूपमें पेश किये गये हैं, अुतने स्पष्ट रूपमें जब हम साबरमतीकी राष्ट्रीय शाला चलाते थे अुस समय हमें शायद वे न भी दिखाअी दिये हों, फिर भी बीजरूपमें तो हमारे मनोरथ अैसे ही थे। अुसमें बम्बअी युनिवर्सिटी जैसी संस्थाकी शिक्षाका निषेध नहीं है, वह सिर्फ अुसका मूल्य मर्यादित करती है। युनिवर्सिटी शिक्षाका अुपयोग अल्पसंख्याके लिअे है, बहुजन-समाजके लिअे नहीं। परंतु अुसे जिस ढंगसे प्रतिष्ठा मिली है, अुसके कारण जिनके लिअे वह योग्य नहीं होती अुन्हें भी प्राप्त करने योग्य वस्तु मालूम होती है; और अिसलिअे विद्यार्थियोंके बहुत बड़े हिस्सेकी शक्ति, समय और पैसेका अपव्यय होता है। अैसी संस्थाओंमें जितनी जगह होती है, अुससे सौ गुने अधिक अुम्मीदवार होते हैं और असंतोष बढ़ता है। फिर भी विद्यार्थियोंको बहुतसा जानने लायक भी सामान्य ज्ञान नहीं मिलता। जो मिलता है अुसमें से बहुतसा तो कभी भी अुनके अुपयोगमें नहीं आता, और कितना ही ज्ञान वे

परीक्षाके दूसरे दिन ही भूल जाते हैं। ज्यादातर विद्यार्थी तो परीक्षाके बाद अध्ययनको सदाके लिअे तिलांजलि दे देते हैं; अुनमें यावज्जीवन विद्यार्थी रहनेकी अुमंग ही नहीं रहती। जिस अंग्रेजी ज्ञानके लिअे बेहिसाब समय लगाया जाता है, वह भी कामचलाअू ही रहता है; और जिन्होंने स्वभाषाको खास विषयके रूपमें लिया हो अुन्हें छोड़कर शेषको अुसका ज्ञान भी नहीं-जैसा ही मिलता है।

फिर भी, युनिवर्सिटी शिक्षाका अुसके मर्यादित क्षेत्रमें अुपयोग है। अिसलिअे अुस संबंधमें विवादास्पद प्रश्नों पर दो-चार विचार यहां पेश करता हूं।

आधुनिक शिक्षाशास्त्री अुच्च शिक्षाके बारेमें तीन भिन्न भिन्न आदर्शोंकी कल्पना करते पाये जाते हैं। अेकका आदर्श है 'ऑक्सफर्ड-कैम्ब्रिज' जैसे या 'नालंदा-तक्षशिला' जैसे छात्रालय-विद्यापीठोंका। ऑक्सफर्ड-कैम्ब्रिज तथा नालंदा-तक्षशिलाके आदर्शोंमें प्राचीनता और अर्वाचीनताका भेद अवश्य होगा, परंतु दोनोंका स्वरूप छात्रालय-विद्यापीठका है। अिस आदर्शमें माननेवालोंका आग्रह है कि अब जो भी नअी युनिवर्सिटी स्थापित की जाय, वह छात्रालय-विद्यापीठ ही होनी चाहिये। आगे मैं अैसी युनिवर्सिटीके लिअे 'विश्वविद्यालय' शब्दका प्रयोग करूंगा।

दूसरा आदर्श प्रान्तव्यापी संस्थाओंको मान्यता देकर तथा परीक्षायें लेकर प्रमाणपत्र देनेवाले भारतकी आधुनिक युनिवर्सिटियों जैसे मण्डलका है। अुसमें छात्रालयको महत्त्व नहीं दिया जाता, न वह किसी अेक स्थानके लिअे होता है। वह व्यापक विद्यापीठ है। अुसके लिअे आगे मैंने 'ज्ञानपीठ' शब्द सुझाया है।

तीसरा आदर्श गुरुकुल विद्यापीठका है। यह नालंदा-तक्षशिलासे कुछ अलग ही कल्पना है। सांदीपनिके पास रहकर शिक्षा पानेवाले कृष्ण-बलदेवके जीवनका जो वर्णन मिलता है, 'अभिज्ञान शाकुंतल' में कण्वके आश्रम परसे जो कल्पना होती है, छांदोग्योपनिषद्में अुद्दालक आदिके गुरुगृहोंकी जो कल्पना होती है, यह आदर्श अुसीके आधार पर रचा हुआ है। अिसके विशाल स्वरूपमें रवीन्द्रनाथ टागोर जैसे किसी प्रतापी कुलपतिके पास, जिसके आसपास अनेक विद्वानोंका मण्डल होगा, विद्यार्थी बचपनसे

लेकर बीस-पचीस वर्षकी अुम्र तक रहेगा, आश्रमके संचालनसे संबंध रखनेवाले सभी छोटे-बड़े काम करेगा, गुरुजनोंकी व्यक्तिगत परिचर्या करेगा, और विद्वानोंमें से किसी अेकके साथ विशेष सम्बन्ध रखेगा। वह अध्यापक जो पढ़ायेगा सो पढ़ेगा, विद्याके अनुसंधानसे संबंध रखनेवाला जो कुछ भी काम अध्यापक करता होगा अुसमें अुसकी सहायता करेगा, अुसीमें से अुसकी शिक्षा भी होती रहेगी, और जब अध्यापकको लगेगा कि अुसका विद्यार्थी बुद्धि आदिके प्रमाणमें जितना सीख सकता है अुतना सीख चुका, तब वह अुसे प्रमाणपत्र देगा और वह विद्यार्थी स्नातक माना जायगा। जहां रवीन्द्रनाथ जैसे कोअी मण्डलवर्ती कुलपति न हों, बल्कि कोअी स्वतंत्र विद्वान हो तो अुसका शिष्य भी अिसी तरह स्नातक बनेगा। जैसे, काका साहब, पं० सुखलालजी, या धर्मानन्द कोसम्बी जैसोंके पास रहकर, अुनके कामोंमें हाथ बंटाकर और अुसमें से खुद भी सीखकर तैयार हुअे विद्वानोंको अिस प्रकारके स्नातक कहा जा सकता है। ये स्नातक अमुक विद्यालयके स्नातक नहीं, परन्तु अमुक गुरुके स्नातक माने जायंगे।

हिन्दू त्रिवर्णोंमें गोत्र-शाखा-प्रवर आदिके जो नाम चले आते हैं, वे शायद अिसी गुरु-परम्पराके सूचक हैं। अेक गोत्रके मनुष्य किसी अेक पूर्वजके ही वंशज होंगे, यह विश्वासके साथ नहीं कहा जा सकता। जैसे कौशिक गोत्रवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य सारे भारतमें पाये जाते हैं। अुन सबका कोअी अेक ही पूर्वज होगा यह कहना कठिन है। परन्तु संभव है अुन सबके कोअी-न-कोअी पूर्वज किसी कौशिक अृषिके गुरुकुलके शिष्य-प्रशिष्य रहे होंगे और अुन्हें गुरुके रूपमें स्वीकार किया होगा। अुनका गोत्र अुनके गुरुकुलकी पहचान है।

अैसे विद्यापीठको सरकारी मान्यता मिलती ही है, अैसा नहीं कहा जा सकता। यदि मिले भी तो वह अुसके स्नातकोंका अनुभव होनेके बाद ही मिलेगी। सरकारका ताम्रपत्र — चार्टर — लेनेके बाद अुसकी स्थापना नहीं होती। अुस पर सरकारका कोअी अंकुश नहीं रह सकता। अुसे मान्यता देनेमें और अुसकी सहायता करनेमें सरकारको भी अपनी प्रतिष्ठा बढ़ती हुअी मालूम होगी। जैसे, सरकारको जब अमुक प्रकारके काम करनेके लिअे लोगोंकी जरूरत होती है, तब वह चरखा-संघ, तालीमी

संघ, ग्रामोद्योग-संघ वगैरासे मांग करती है। सरकारको जब पाली भाषाके अध्यापककी आवश्यकता होती तो वह कोसम्बीजीसे पूछती थी; प्राकृतके अध्यापक चाहिये तो वह मुनि जिनविजयजी, पं० सुखलालजी, या पं० बेचरदासजीसे पूछेगी। अुस गुरुकुल या गुरुके स्नातकोंकी सरकार या प्रजामें अैसी प्रतिष्ठा रहेगी। यही अुसकी पदवीकी मान्यता है।

अैसे विद्यापीठोंका क्षेत्र सदा ही खुला रहेगा। ये जैसे सरकारी तंत्र द्वारा स्थापित विश्वविद्यालयोंका स्थान नहीं ले सकते, वैसे ही अुनकी वजहसे अिन विद्यापीठोंके 'बरखास्त' होनेका भी कोअी कारण नहीं है। यह तो स्पष्ट है कि ज्यादातर विद्यार्थी तंत्र-स्थापित विश्वविद्यालयोंमें ही जायेंगे।

यह लिखते समय, विश्वविद्यालय और विद्यापीठ अिन दो शब्दोंमें से किस शब्दको पसन्द किया जाय, अिस सम्बन्धमें आज जो चर्चा चल रही है, अुसके बारेमें मुझे कुछ सुझाव पेश करनेकी अिच्छा होती है। यों तो 'विश्वविद्यालय' युनिवर्सिटी शब्दका शब्दानुवाद है। अिसके सिवा अुसमें मुझे कोअी सार्थकता नहीं मालूम होती। लेकिन यह शब्द भी अब रूढ़ हो गया है, अिसलिअे भले रहे। मैं समझता हूं कि अेफिलियेटिंग युनिवर्सिटी, रेसिडेन्शियल युनिवर्सिटी और अूपर बताअी विशिष्ट गुरुओं या गुरुकुलोंकी संस्थाअें — अिन तीनोंके लिअे यदि हम तीन अलग-अलग शब्द रखें तो अच्छा होगा। मेरा नम्र सुझाव है कि सरकारके चार्टर द्वारा स्थापित की हुअी रेसिडेन्शियल युनिवर्सिटीके लिअे विश्वविद्यालय शब्द मर्यादित कर देना ठीक होगा। खास गुरुकुल या गुरु किसी विषयमें यदि आरंभसे लेकर अुच्चतम शिक्षा तक विद्यार्थियोंको ले जाते हों और अुसका विकास करते हों — भले अुन्हें सरकारकी मान्यता प्राप्त हो या न हो — तो अुन्हें विद्यापीठ कहा जाय; और अेफिलियेटिंग युनिवर्सिटीके लिअे हम 'ज्ञानपीठ' या अैसा ही कोअी शब्द काममें लें।

अब गुजरातके लिअे सोची गअी नयी युनिवर्सिटीका स्वरूप 'विश्व-विद्यालय' — रेसिडेन्शियल — जैसा ठीक है या ज्ञानपीठ जैसा अिस विषयमें :

मुझे लगता है कि आज तो वह ज्ञानपीठ जैसा ही हो सकता है या होना चाहिये। साथ ही अुसमें कोअी विश्वविद्यालय भी हो सकता है। अहमदाबाद, बड़ौदा या सूरत जैसी जगहोंमें कअी प्रकारके महाविद्यालय चलते हों और अुन विद्यालयोंका अेक अलग मोहल्ला — प्रचलित भाषाके अनुसार अेक 'नगर' — बसे, तो अुन सबको अेकसाथ काम करने और जोड़नेके लिअे अेक विशिष्ट नियमावली भी हो सकती है। आगे चलकर अुनमें से हरअेक यदि स्वतंत्र विश्वविद्यालय बन जाय, अपनी ही परीक्षाअें ले और पदवियां दे तो भले दे सकता है। परन्तु आज तो समूचे गुजरातका अेक ज्ञानपीठ हो, यही मुझे अिष्ट मालूम होता है। यहां यह याद रखना चाहिये कि मैं जब गुजरात शब्दका अुपयोग करता हूं, तो मेरी भाषामें काठियावाड़-कच्छ आदि प्रदेशोंका भी समावेश होता है। अैसे समग्र गुजरातमें भविष्यमें अैसे बीस-पचीस स्वतंत्र विश्वविद्यालय भी बन सकते हैं।

राजनीतिक या शासन-व्यवस्थाकी दृष्टिसे भाषावार प्रान्तरचना हो जानेके बाद ही भाषावार प्रान्तीय विश्वविद्यालय या ज्ञानपीठ स्थापित किये जाने चाहिये, अैसा मैं नहीं मानता। राजनीतिक या व्यवस्था-सम्बन्धी विभाग करनेमें अनेक पहलुओं पर विचार करना पड़ता है। अुसमें क्षेत्रफल, जनसंख्या, आय-व्यय, रक्षा तथा यातायातकी सुविधायें, नदी-नाले-पहाड़ आदिकी कुदरती सीमायें आदि अनेक बातोंकी जांच करनी पड़ती है। परंतु प्रत्येक भाषाका अैसा प्रदेश अिन सब बातोंका विचार करके नहीं बना होता। अुनके प्रदेश लोगोंकी बसाअी हुअी बस्तीके आधार पर बने होते हैं। अुनकी बिलकुल स्पष्ट सीमायें नहीं बांधी जा सकतीं। अिस कारणसे ज्ञानपीठोंका अधिकारक्षेत्र स्थूल सीमासे भी बाहर जाय — अर्थात् वह extra-territorial हो — तो अुसमें मुझे कोअी दोष नहीं दिखाअी देता। यदि और बातोंकी सुविधा हो तो 'गुजरात ज्ञान-पीठ' द्वारा मान्य किया हुआ महाविद्यालय नागपुर या कलकत्तेमें भी हो सकता है और महाराष्ट्र ज्ञानपीठका बड़ौदेमें, तथा अिन दोनोंका और अिनके अलावा प्रयाग या काशीका महाविद्यालय बम्बअीमें भी हो सकता है।

तब प्रश्न अुठ सकता है कि प्रान्तीय ज्ञानपीठकी विशिष्टता क्या है?

मेरा खयाल तो यह है कि प्रान्तीय भाषाको अूंचीसे अूंची शिक्षाका माध्यम बनाना, अुस भाषामें किसी भी प्रकारकी विद्याका ज्ञान मिल सकने और अुसका विकास करनेकी सुविधा पैदा करना और अुस भाषाका विकास करना अिस विद्यापीठकी मुख्य विशिष्टता और क्षेत्र है। कोअी राजनीतिक दृष्टिसे बना हुआ प्रान्त द्विभाषी या विविध-भाषी हो, तो वह अिसमें बाधक बनता है यह मैं कतअी नहीं मानता। अिसमें यदि अलग-अलग युनिवर्सिटियां अपने क्षेत्रका अतिक्रमण करें और दूसरी युनिवर्सिटियोंके क्षेत्रमें काम करने लगें, तो अुसमें मुझे बाधा जैसा बिलकुल मालूम नहीं होता। गुजराती, मराठी, बंगाली, हिन्दी आदि जो जो साहित्यिक भाषायें हैं और जिन्हें बोलनेवाले प्रजाके विशाल समुदाय हैं, अुन अुन भाषा-भाषियोंको अुनकी अपनी भाषाओंमें ही पूरी शिक्षा मिल सके अिसका खयाल रखना सरकारका, विद्वानोंका, साधन-सम्पन्न लोगोंका और प्रजाके सेवकोंका कर्तव्य है और जनताको अिन सबसे वैसी अपेक्षा रखनेका अधिकार है। अिस प्रकार गुजरातके ज्ञानपीठों, विश्व-विद्यालयों या विद्यापीठोंकी विशिष्टता अुनकी शिक्षाके माध्यममें रहेगी।

अैसी प्रत्येक संस्थाकी अलग-अलग विशेषतायें भी हो सकती हैं। वे समग्र प्रान्तकी विशिष्टता, स्थानीय विशिष्टता तथा संस्थाके कार्यप्रदेश और अुद्देश्यकी विशिष्टताके अनुसार अलग-अलग होंगी। हो सकता है कि अहमदाबाद-जैसे व्यापार-प्रधान क्षेत्रमें शिक्षाके अेक अंगका अधिक विकास हुआ हो, समुद्रके पासके क्षेत्रमें दूसरे अंगका और आणन्द जैसे स्थानमें तीसरे अंगका अधिक विकास हुआ हो।

अिसमें राष्ट्रभाषा और प्रान्तीय भाषाके बीच कोअी विरोध पैदा होनेकी आवश्यकता मुझे नहीं दिखाअी देती। जहां गलत अभिमानोंका पोषण किया जाता है वहीं विरोध पैदा होता हैं। हरअेक अपनी मर्यादा समझे तो व्यवस्था हो सकती है।

यदि राष्ट्रभाषाको किसी अेक खास दिशामें ही खींचनेका प्रयत्न हो — जैसे, संस्कृत-प्रचुर या अरबी-फारसी-प्रचुर या कृत्रिम शब्दोंसे

भरी हुअी हिन्दी — तो संभव है कठिनाअियां पैदा हों। हां, सभी प्रान्त अपनी प्रान्तीय भाषाओंमें यह रुख अख्तियार करें तो बात अलग है। परन्तु यदि हम याद रखें कि भारतकी सभी प्रचलित प्रान्तीय भाषायें जितनी संस्कृतके निकट हैं अुसकी अपेक्षा वे अपनी रचना में अेक-दूसरेके ही ज्यादा निकट हैं — संस्कृतसे तो अुलटे वे भिन्न हैं — तथा सबके विकासमें लगभग समान शक्तियोंने काम किया है, तो हमें अिन सभी भाषाओंका साम्य विशेष रूपमें दिखाअी देगा। यदि लिपियोंकी विविधता न होती, तो संभव है ये और भी अेक-दूसरेके निकट होती। अरबी-फारसी, अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओंका प्रभाव सभी भाषाओं पर समान रूपमें पड़ा है, अुन भाषाओंके शब्द सभी प्रान्तोंमें लगभग समान रूपमें मिल गये हैं, कभी-कभी तो संस्कृतकी अपेक्षा भी ज्यादा समान रूपमें। शुद्ध संस्कृत साहित्यसे लिये हुअे शब्द अवश्य सब भाषाओंमें समान हैं, परन्तु जो संस्कृत साहित्यमें नहीं बरते गये हैं तथा जिन्हें प्रान्तीय भाषाओंके तथा आधुनिक जीवनके विकासके दरमियान विद्वानोंने गढ़ा है, अैसे नये संस्कृत शब्द प्रान्त-प्रान्तमें भिन्न रूपमें बने हुअे दिखाअी देंगे।

अिसलिअे जो शब्द प्राचीन संस्कृत साहित्यमें या मूल प्रान्तीय भाषामें न हों, बल्कि नये गढ़ने हों तथा किसी विदेशी भाषामें हों लेकिन बरते न जा सकते हों, अुन शब्दोंकी रचनाके लिअे यदि कोअी निश्चित मापदण्ड तय किया जा सकता हो, तो मैं निःशंक होकर कह सकता हूं कि अुनसे प्रान्तीय और राष्ट्रीय भाषाके बीच विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा।

मेरे अिस कथनका प्रयोजन यह है कि मेरी कल्पनामें प्रान्तीय भाषाओंके ज्ञानपीठ होते हुअे भी हर प्रान्तमें कुछ अैसे विश्वविद्यालय हो सकते हैं, जो सारे भारतके लिअे या भारतके बहुतेरे प्रान्तोंकी दृष्टिसे बनाये गये होंगे। अुनमें प्रान्तके बाहरके विद्यार्थी, अध्यापक आदि भी आते होंगे। अिसके अलावा मैं अिस बातकी भी कल्पना करता हूं कि प्रान्तीय ज्ञानपीठोंमें भी परप्रान्तके अध्यापक बार-बार आ सकते हैं। यदि गुजरात विश्वविद्यालयमें अैसी नीति चलने लगे कि अुसमें परप्रान्तके अध्यापकों या विद्यार्थियोंके लिअे स्थान ही न हो, तो अुसे मैं विचार और दृष्टिका दोष मानूंगा। अिसी तरह हमारे विशाल देशमें यह हमेशा

ही होता रहेगा कि हमारी प्रान्तीय भाषामें किसी खास विषयकी अुत्तम पुस्तक न हो और दूसरी किसी भाषामें हो। अुसका सबसे पहला अनुवाद राष्ट्रभाषामें ही होना संभव है। लेकिन हो सकता है अुसमें भी न हो। अुसके लिअे यदि यह कहा जाय कि वह पुस्तक पाठ्यपुस्तक नहीं बनाअी जा सकती, तो अैसी संकीर्ण दृष्टिसे काम नहीं चलेगा।

अिसलिअे मेरी कल्पनाके अनुसार अुच्च विद्याके हर अध्यापक और विद्यार्थीको कमसे कम दो भाषायें तो पूर्ण रूपसे जानना ही चाहिये। अेक तो प्रान्तीय भाषा और दूसरी राष्ट्रभाषा। दोनों भाषाओंमें अुसे शुद्ध लिखना और बोलना आना चाहिये। राष्ट्रभाषामें दिये जानेवाले व्याख्यान समझनेमें और अुस भाषाकी पुस्तकें पढ़नेमें अुसकी योग्यता आज जितनी अंग्रेजीमें है अुससे ज्यादा होनी चाहिये।

यदि हम यह बात मान लें तो राष्ट्रभाषा और प्रान्तीय भाषायें अेक-दूसरेके साथ और सहारेसे ही आगे बढ़ती रहेंगी; यह नहीं हो सकता कि अेक भाषा दूसरीकी अपेक्षा बहुत ही आगे बढ़ जाय या बहुत पीछे रह जाय। तब यह माननेके लिअे भी कोअी कारण नहीं रह जायगा कि अेक प्रान्तके मनुष्योंको दूसरे प्रान्तकी संस्थामें अध्ययन, अध्यापन तथा सरकारी विभागोंमें नौकरी वगैरा करनेमें बहुत असुविधायें होंगी।

पारिभाषिक शब्द बनानेमें कौनसे शब्द परभाषाके ही रखे जायं और कौनसे बदले जायं तथा किस भाषाका आधार लेकर नये शब्द गढ़े जायं, यह वाद-विवाद कुछ अंश तक स्वाभाविक जरूर है। परन्तु यदि मुख्य सिद्धान्त निश्चित हो जायं, तो बहुत हद तक वह आवश्यक नहीं है; प्रत्यक्ष रूपमें पढ़ानेकी शुरुआत किये बिना घर बैठे-बैठे पाठ्यपुस्तकें लिखने या शब्दकोश बनानेके प्रयत्नसे अैसा वाद-विवाद पैदा होता है।

मेरी दृष्टिसे मुख्य सिद्धान्त ये हैं :

१. आन्तर-राष्ट्रीय पारिभाषिक शब्दोंको बदलनेका मोह न रखना चाहिये। अैसे शब्दोंका मुख्य क्षेत्र केवल प्राकृतिक विज्ञानकी शाखायें ही हैं। आन्तर-राष्ट्रीय पारिभाषिक शब्दोंमें भी कभी-कभी दोहरी शब्दमाला होती है : राष्ट्रीय और आन्तर-राष्ट्रीय। अुदाहरणके लिअे कुछ रासायनिक पदार्थों, तत्त्वों, प्राणियों अित्यादिके नाम। अिनमें से कुछके लिअे अपनी-

अपनी भाषाके शब्द पहलेसे ही प्रचलित हैं, अिसलिअे वे भी चलते हैं और अुनकी पारिभाषिक संज्ञा भी दी जाती है। जैसे तांबेको हम 'तांबा' कहते हुअे और पारिभाषिक अर्थमें निस्संकोच भावसे अुसका अुपयोग करते हुअे भी अुसकी पारिभाषिक संज्ञा (Cupram-Cu) का अुपयोग करेंगे। परन्तु अेल्युमिनियमके लिअे नया देशी शब्द नहीं बना है और वह शब्द प्रचलित हो गया है, अिसलिअे यदि अुसे बदलनेका प्रयत्न किया जाय तो वह अनुचित माना जाना चाहिये। अिसी तरह सोडियम और सोडा शब्द अंग्रेजी होने पर भी हमारे देशमें प्रचलित हो गये हैं। अुन्हें गुजराती या हिन्दी समझकर ही बरतना चाहिये, यद्यपि अुनकी आन्तर-राष्ट्रीय संज्ञा (Natrum-Na) भी रहेगी ही। अिसी तरह विज्ञानकी दूसरी शाखाओंमें भी होना चाहिये।

२. अूपरके अुदाहरणोंसे यह भी फलित होता है कि जो विदेशी शब्द हमने पूरी तरह पचा लिये हैं — जो जो मनुष्य अुन चीजोंको बरतते या देखते हैं वे अुन्हीं शब्दोंसे अुन्हें पहचानते हैं—अुनके लिअे अब भिन्न शब्द गढ़ने और प्रचलित करनेका मिथ्या मोह हमें छोड़ देना चाहिये। यह सिर्फ प्राकृतिक विज्ञानकी शाखाओंको ही लागू नहीं होता, बल्कि जीवनके सारे व्यवहारोंमें बरते जानेवाले शब्दोंको लागू होता है। जैसे, बिल, रसीद (रिसीट), वाअुचर, कम्पनी, शेअर, डिविडेण्ड, थरमॉमीटर, ऑपरेशन आदि सैकड़ों शब्द हैं। अिनमें कुछके देशी पर्याय भी साथ साथ प्रचलित हैं। वे और विदेशी शब्द दोनों विकल्प रूपमें बरते जा सकते हैं, और यदि अिन दोनोंके स्वरूपमें कुछ भेद हो तो अेक के लिअे अेक और दूसरेके लिअे दूसरा भी निश्चित किया जा सकता है। जैसे (गुजराती भाषामें) 'आंकड़ा' शब्द लीजिये। यह बिल, अिन्वॉअिस (बीजक), वाअुचर तीनों शब्दोंके लिअे काममें लिया जाता है। लेकिन अिन्वॉअिसके लिअे 'भरतियुं' (बीजक) शब्द ज्यादा निश्चित है। तब अिस प्रकारके आधारोंके लिअे सामान्य शब्द 'आंकड़ा' रखकर अुसके भेदोंके लिअे बिल, अिन्वॉअिस अथवा 'भरतियुं' तथा वाअुचर काममें लिअे जा सकते हैं। लेकिन अिन सबके लिअे या अिनमें से किसी अेकके लिअे 'आधार-पत्र' शब्द बनाना गलत मोह कहा जायगा।

३. कोअी शब्द फारसी, या अरबी या अंग्रेजीका है, अिसीलिअे अुसे बदलनेकी मनोवृत्ति ठीक नहीं। जो शब्द हमारी भाषामें घुल-मिल गये हैं, अथवा जो वस्तुयें या भाव ही अैसे विशिष्ट और नये हैं कि अुनके लिअे हम जो नये शब्द गढ़ेंगे वे कृत्रिम और अुनके विदेशी नामोंके जैसे ही नये होंगे, अुनके लिअे अुन विदेशी शब्दोंको अपनानेमें ही भाषाकी सेवा है। जैसे, पावर, फोर्स, अेनर्जी। जहां ये शब्द पदार्थ-विज्ञानके पारिभाषिक शब्दोंके रूपमें नहीं, बल्कि सामान्य साहित्यमें अुपयोगमें लिये जाते हैं, वहां वे अेक-दूसरेके पर्याय जैसे भी होते हैं, और अुनका अर्थ हमारी भाषामें जोर, दम, बल, ताकत, शक्ति, अुत्साह, वीर्य आदि शब्दोंसे अच्छी तरह बताया जा सकता है। परन्तु अिन छह-सात देशी शब्दोंमें से किस आधार पर अेक या दो शब्द 'पावर' के लिअे, दूसरे अेक-दो शब्द 'फोर्स' के लिअे और तीसरे 'अेनर्जी' के लिअे निश्चित करेंगे? और अैसा करनेमें यदि कुछ गड़बड़ी पैदा होनेकी संभावना हो, तो क्या बिलकुल नये ही शब्द गढ़ेंगे? जैसे प्रबल या सुबल, प्रशक्ति, प्रोत्साह, प्रवीर्य आदि? अिसकी अपेक्षा अधिक अिष्ट तो यह है कि पावर, फोर्स, अेनर्जीको ही पारिभाषिक शब्दोंकी तरह रखा जाय और निकम्मी शब्द-वृद्धिकी मेहनतसे बचा जाय।

४. यह ठीक है कि नये शब्दोंकी रचनाके लिअे हमें संस्कृतका आश्रय लेना ही विशेष अनुकूल होगा। परन्तु अिस कारणसे जो फारसी, अरबी या अंग्रेजी शब्द हमारी भाषामें प्रचलित हो गये हैं अुन्हें बिना कारण बदलनेमें मुझे लाभ नहीं दिखाअी देता। और संस्कृतका आश्रय लेनेका मतलब यह न होना चाहिये कि संस्कृतके व्याकरण और अुसकी क्लिष्टताका भी आश्रय लिया जाय, या फिर अैसे शब्द बनाये जायं जो अपने-आप समझमें न आ सकें। अैसे नये शब्द बनानेकी अपेक्षा तो किसी भाषाका प्रचलित शब्द दाखिल करना ज्यादा अच्छा माना जायगा।

प्रान्तकी बड़ी अदालतोंकी और दफ्तरोंकी भाषा कौनसी हो, अिस संबंधमें कठिनाअियां पेश की जाती हैं। मेरी रायमें साधारणतया वह भाषा प्रान्तकी भाषा ही होगी। बड़ी बड़ी अदालतोंका सब काम प्रान्तीय भाषामें ही चलेगा, यहां तक कि फैसला भी अुसी भाषामें

दिया जायगा। सभी फैसलोंकी फेडरल कोर्टमें अपील नहीं की जाती और न सब 'लॉ रिपोर्ट्स' में प्रकाशित ही करने पड़ते हैं। अैसे महत्त्वके फैसलोंका राष्ट्रभाषामें अनुवाद किया जा सकता है। आज भी अनेक दस्तावेजों, छोटी अदालतोंके फैसलों वगैराका अंग्रेजीमें अनुवाद करके ही बड़ी अदालतोंमें कार्रवाअी की जाती है। वही राष्ट्रभाषामें भी हो सकता है। न्यायाधीशोंको यह अधिकार भी दिया जा सकता है कि वे जिस फैसलेको राष्ट्रभाषामें देना अुचित समझें, अुसे राष्ट्रभाषामें भी दे सकते हैं। परप्रान्तके नियुक्त किये हुअे न्यायाधीशोंको वैसा करनेकी छूट अवश्य दी जा सकती है। अुनके लिअे प्रान्तकी भाषा समझना काफी होगा।

प्रान्तीय दफ्तरोंकी व्यवस्था भी अिसी प्रकार होगी। अगर अंग्रेजी हुकूमतके दिनोंमें अंग्रेजी और प्रान्तीय भाषाकी जोड़ी चल सकती थी, तो प्रान्तीय भाषा और राष्ट्रभाषाकी जोड़ी तो अुससे ज्यादा अच्छा काम कर सकती है।

अिस कार्यमें जो बड़ी बाधा है वह प्रान्तीय भाषा नहीं, बल्कि प्रान्तीयता है, अपने प्रान्तकी मिथ्याभिमानी अस्मिता है। अिस मामलेमें प्रान्तमें स्थिर रूपसे रहनेवाले लोगोंको व्यापार, धन्धे, नौकरी वगैराके लिअे अनेक प्रान्तोंमें घूमनेवाले लोगोंसे विशाल दृष्टि ग्रहण करनी चाहिये। मेरे पास कुछ अैसे पत्र आते हैं, जिनमें प्रान्तीय संकुचिततासे अूबकर सभी प्रान्तीय भाषाओंको हटाकर सबके लिअे राष्ट्रभाषाको ही मातृभाषा बनाने तककी हिमायत की जाती है। मैंने देखा है कि अिन पत्र-लेखकोंमें अधिकतर गांधीवादी, समाजवादी, या साम्यवादी नहीं होते, बल्कि गुजरात-काठियावाड़के भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें व्यापार-धन्धा करनेवाले, या दक्षिण भारतके भिन्न-भिन्न भागोंमें नौकरी करनेवाले लोग होते हैं। जिसे जंगम जीवन बिताना होता है, वह अेक ही स्थानका बहुत ज्यादा अभिमान नहीं रखता।

जो आज गुजराती बोलते हैं, अुनके पूर्वज गुजराती ही बोलते थे अैसा नहीं कहा जा सकता। गुजरातके ही राजाओंमें जिनके नाम हम अभिमानके साथ लेते हैं अुन चावड़ा और सोलंकी राजपूतोंकी भाषा कौनसी

होगी सो भगवान जाने! धीरे-धीरे वह गुजराती बनी। जो यह कह सकें कि अुनके पूर्वज कमसे कम पांच हजार वर्षोंसे गुजरातमें ही रहते आये हैं, वे अपने अुन पूर्वजोंकी भाषाके कितने शब्द आज समझ सकेंगे यह कहना कठिन है। भाषाओंका स्वरूप अिस प्रकार अनजाने ढंगसे बदलता ही रहता है। दो सौ या पांच सौ वर्षोंमें भाषामें अितना परिवर्तन हो जाता है, मानो पुरानी भाषा मर गअी और अुसकी जगह नअी आ गअी है। अिसलिअे मेरी नम्र रायमें हमें यह मिथ्याग्रह नहीं रखना चाहिये कि हमारे जो वंशज परप्रान्तमें स्थायी रूपमें बसें वे अपने प्रान्तकी भाषा न छोड़ें। मेरी रायमें श्री मावलंकर गुजराती हैं। मैं गुजराती हूं, लेकिन मेरी भतीजी कुमारी तारा महाराष्ट्रीय है; और मध्यप्रान्तके अर्थमंत्री श्री दुर्गाशंकर मेहता हैं तो खेडावाल ब्राह्मण, फिर भी वे महाकोशलके हिन्दी-भाषी ही हैं। काकासाहब बहुभाषी हैं। गुजरात, महाराष्ट्र, या हिन्दी प्रान्त अुन्हें अपना न मानें, तो वह अुनकी संकुचितता ही मानी जायगी।

हम विशाल दृष्टिसे गुजरातकी सेवा करें, और अुसके फल समग्र भारतके और संभव हो तो समग्र मानवजातिके चरणोंमें अर्पण करें। अैसे गुजरातीके लिअे यह भी कहा जा सकता है कि 'जहां अेक भी गुजराती रहता है, वहां सदा ही गुजरात बसता है', और यह भी कहा जा सकता कि वह गुजराती सारे जगतका नागरिक है। वह जिस समय जहां बसता है, अुस समय वहांकी प्रजाका पूरा सेवक और हित-चिन्तक रहता है। गांधीजीको जन्म देकर सचमुच गुजरातने अैसे गुजराती पैदा कर दिखाये हैं। गुजरात अैसे गुजराती सदा ही पैदा करता रहे!

अन्तमें आपके निमंत्रणके लिअे मैं आप सबका आभारी हूं। यदि अिस लम्बे लेखसे आप अूब गये हों तो मुझे क्षमा करें। गुजरात विद्यासभाका भविष्य अुज्ज्वल हो!

बम्बअी, २७–११–'४८
शताब्दी व्याख्यानमाला — गुजरात विद्यासभा

३

राष्ट्रीय शिक्षा*

राष्ट्रीय शिक्षाका अर्थ क्या है? राष्ट्रीय शिक्षामें ये निश्चित वस्तुअें होनी ही चाहिये और अितनी नहीं होनी चाहिये, अैसा विधि-निषेधात्मक आलेख आप तैयार कर दें। साथ ही राष्ट्रीय शिक्षा और शुद्ध शिक्षाके बीच यदि कुछ अन्तर हो तो वह भी बतलावें।

जुलाअी १९२७ में अुड़ीसा, सिंध और गुजरातमें बाढ़से बहुत नुकसान हुआ। लाखों मनुष्य आफतमें फंस गये। अुस संकटको दूर करनेमें अुड़ीसाका प्रयत्न बहुत ही थोड़ा माना जायगा। सिंधमें अभी ही संकट-निवारणका काम शुरू हुआ है। गुजरातमें किस प्रकारका प्रयत्न हुआ वह हम सब जानते हैं। अतिवृष्टिके समय और अुसके बाद जनताने अपने संकट किस प्रकार धीरज और परस्पर सहकारसे सहे और अुसके निवारणके लिअे किस प्रकारकी व्यवस्था तेजीसे की, वह हम देख ही चुके हैं। जनता सरकारका मुंह देखती नहीं बैठी। सरकार संकट-निवारणकी तैयारी करे अुसके पहले ही अुसने अपनी तैयारी कर ली। जब सरकार मदद देनेके लिअे आगे आअी, तब अुसे प्रजाकी व्यवस्थाके मारफत ही अपनी मदद देनेमें विशेष सुविधा और बुद्धिमानी मालूम हुअी और जनताकी व्यवस्थाको स्वीकार करना पड़ा।

(देशी राज्योंको छोड़कर) अुड़ीसा, सिंध और गुजरातकी सरकार अेक ही है। लेकिन हम देखते हैं कि सरकारकी ओरसे जो राहत गुजरातको मिली, वह दूसरे प्रान्तोंको नहीं मिली। अिसका कारण यह नहीं कि सरकारकी गुजरात पर कोअी विशेष कृपादृष्टि है, परंतु गुजरातकी जनताकी राष्ट्रीय प्रगति अितनी हो गअी है कि अिस मामलेमें सरकारको जनताकी मांग स्वीकार करनी ही पड़ी। गुजरातमें भी देशी राज्योंमें — बड़ोदा जैसे आगे बढ़े हुअे माने जानेवाले राज्यमें भी — जनताका संकट दूर करनेके लिअे अन्य स्थानोंकी तुलनामें कम प्रयत्न किया गया,

* विद्यापीठ व्याख्यानमालामें ता० १५–१–'२७ को हुअे प्रश्नोत्तर।

अैसा कहा जायगा। किसी किसी राज्यने तो कुछ भी नहीं किया। निष्ठुर बनकर तमाशेकी तरह जनताके कष्ट देखता रहा। बड़ोदा राज्यमें भी जितनी राहत बड़ोदा प्रान्तने प्राप्त की, अुसके मुकाबले कड़ी प्रान्तको बहुत ही थोड़ी और देरसे मिली। अिसका कारण यही है कि देशी राज्योंकी प्रजामें राष्ट्रीय प्रगति कम हुअी है, और बड़ोदा राज्यमें बड़ोदा प्रान्तकी अपेक्षा कड़ी प्रान्तमें सार्वजनिक कार्यकर्ताओं और लोकमतकी शक्ति कम है।

राष्ट्रीय शिक्षा वही कही जा सकती है, जिससे राष्ट्रीय प्रगति सिद्ध हो, जिससे जनताको अपने काम अपने हाथों चलानेकी शक्ति प्राप्त हो।

सरकार या कुछ नेता अच्छे या बुरे नियम बना दें और अुन्हें जनता चुपचाप या थोड़ी-बहुत चिल्लपों मचानेके बाद स्वीकार कर ले, अुससे जनता शिक्षित नहीं मानी जायगी। परंतु जनता खुद ही अपने नियम पसन्द करके अुन पर अमल करने लगे और सरकारको वे नियम अुसी रूपमें स्वीकार करने पड़ें, अैसी स्थिति निर्माण करनेवाली शिक्षा ही राष्ट्रीय शिक्षा है।

अुदाहरणार्थ, जनताको अैसा लगे कि हमारे यहां दियासलाअीका अुद्योग होना चाहिये, और अुसके लिअे लोकमत अितने व्यवस्थित ढंगसे तीव्र बने कि कोअी भी व्यापारी विदेशी दियासलाअी बेच ही न सके, तो अुस आन्दोलनमें राष्ट्रीय शिक्षाका अंग समाया हुआ होना चाहिये। अिस तरह जनता सिर्फ स्वराज्यकी मांग ही करती न बैठेगी, बल्कि अपने आप देशका बहुतसा कारबार चलाने लगेगी। जिस रीतिसे यह सब होगा, अुसे राष्ट्रीय शिक्षा कहेंगे।

अैसा न माना जाय कि यह काम तुरन्त हो जायगा। अिसके लिअे बार-बार तीव्र आन्दोलन करने होंगे। परदेशी या निरंकुश देशी सरकारको वशमें करने या पदभ्रष्ट करनेके लिअे आखिरी कदम तीव्र संघर्षका ही होगा। वह या तो रक्तपातहीन होगा या रक्तपातवाला होगा। परंतु अुसके पहले यदि जनता अपना अधिकतर कारोबार स्वयं चलाने लग गअी होगी तो ही आखिरी कदममें निश्चयपूर्वक यश मिलेगा। अिसलिअे जनता अपने काम स्वयं ही संभालने लगे, यह राष्ट्रीय शिक्षा है।

यदि हम पिछला अितिहास देखें तो भी मालूम होगा कि राष्ट्रीय शिक्षाका विचार स्वराज्यके प्रश्नमें से ही पैदा हुआ है। सरकारने बंग-भंग किया, मुसलमानोंको धोखा दिया, रॉलेट अेक्ट बनाया, जलियांवाला बागका हत्याकांड किया। जनताने टीका-टिप्पणी की, अुत्तेजित हुअी, तीव्र रोष प्रकट किया, परंतु अुसने देख लिया कि वह खुद असहाय है। सरकारने आज अनेक युवकोंको जेलखानोंमें डाल रखा है, साअिमन कमीशनको भेजा है। जनता टीका-टिप्पणी कर रही है, गुस्सेसे बड़बड़ा रही है, तड़प रही है। परंतु जिस तरह मौतसे चिढ़कर स्त्रियां अपनी ही छाती-माथा कूटने लगती हैं, अुसी तरह अेकाध दिनके लिअे सूतक पालकर जनता भी अिसके खिलाफ अपनी चिढ़ जाहिर करती है, लेकिन अन्तमें देखती है कि वह स्वयं असहाय है।

जनताको अिस असहाय स्थितिसे बाहर निकलना है। राष्ट्रीय शिक्षाका विचार अिसी भानमें से अुत्पन्न हुआ है। और बार-बार लहरें अुठें या बैठें, तो भी जब यह भान नये सिरेसे होने लगता है तब वह अुसी असहाय स्थितिसे निकलनेके खयालसे पैदा होता है।

अिस असहाय स्थितिसे प्रजाको जिस रीतिसे निकाला जाय वह राष्ट्रीय शिक्षा है।

बेशक अिसमें चरखा मुख्य है। केवल आर्थिक दृष्टिसे ही नहीं बल्कि प्रजाके सामाजिक और राजनीतिक संगठनकी दृष्टिसे भी। यह प्रवृत्ति हमें राष्ट्रीय सिविल सर्विस दे रही है और देगी। अिसके आस-पास अनेक मंडल, संस्थाअें और प्रवृत्तियां खड़ी की जा सकती हैं, परंतु अिसके बिना अेक भी प्रवृत्ति अितनी व्यापक नहीं बन सकती।

राष्ट्रीय शिक्षाका दूसरा अंग अखाड़े हैं। यह अंग सिर्फ अिसीलिअे महत्त्वका नहीं है कि देशकी शारीरिक संपत्ति बढ़नी चाहिये, बल्कि अिसलिअे भी कि देशमें आवश्यक क्षात्रवृत्तिका विकास होना चाहिये।

राष्ट्रीय शिक्षाका तीसरा अंग ज्ञान-प्रचार है। अिसमें छात्रालय, पाठशाला, रात्रिशाला, वाचनालय आदिका समावेश होता है।

दलित जातियोंकी सेवा और स्त्री-शिक्षा अंशतः ज्ञान-प्रचारके अंग हैं और अंशतः राष्ट्रीय शिक्षाके स्वतंत्र अंग हैं। क्योंकि अिनमें केवल

ज्ञान-प्रचारका ही प्रश्न नहीं है, बल्कि अिन वर्गोंके साथ होनेवाले अनेक प्रकारके अन्यायोंका प्रतिकार करनेका भी प्रश्न है। अिसलिअे अिसे मैं अलग चौथे अंगके रूपमें गिनता हूं।

यह तो हुआ राष्ट्रीय शिक्षाका विधायक पहलू। अब हम अिसका निषेधात्मक पहलू लें।

देशको जिस असहाय स्थितिसे बाहर निकलना है, अुसके साथ जिस शिक्षाका संबंध न हो वह राष्ट्रीय शिक्षा नहीं है। अुसमें जिसे हम बहुश्रुतता या (कुछ अनिश्चित रूपमें) संस्कारिता कहते हैं वह भले हो, परंतु वह राष्ट्रीय शिक्षा नहीं है। और अिस प्रकारके साहित्य, संगीत या कला संस्कारी साहित्य, संगीत आदि भले हों, किन्तु वे राष्ट्रीय नहीं हैं।

अुदाहरणके लिअे, यदि कालिदासका शाकुन्तल नाटक, लोकगीत या कवि नानालालके 'रास' देशको अपनी असहाय स्थितिसे बाहर निकालनेमें कुछ मदद न कर सकें, तो वे राष्ट्रीय साहित्य नहीं हैं। और यदि जुगतराम दवेकी सीधी-सादी रचना 'आंधळानुं गाडुं' (अंधेकी गाड़ी) अिस दिशामें विचारोंको प्रेरणा दे तो वह राष्ट्रीय साहित्य है। रवीन्द्रनाथ टागोरका 'अचलायतन' तो राष्ट्रीय साहित्य हो, परंतु 'गीतांजलि' अुत्कृष्ट होते हुअे भी संभव है राष्ट्रीय साहित्य न हो।

नंदलाल बोस या रविशंकर रावलके चित्र यदि अुक्त अुद्देश्यकी दिशामें ले जानेवाले न हों तो वे राष्ट्रीय कला नहीं हैं।

ताजमहल, देलवाड़ाके मंदिर या अजन्ताकी गुफायें यदि हमारा आजका प्रश्न हल करनेमें कुछ योग न दें, तो वे राष्ट्रीय कलाके नमूने नहीं हैं।

मैं यह नहीं कहता कि जो राष्ट्रीय नहीं है वह सब बुरा ही है। परंतु अुसमें जो कुछ अच्छा होगा अुसका स्थान राष्ट्रीय शिक्षासे भिन्न शिक्षामें होगा। केवल राष्ट्रीय शिक्षामें अुसका आवश्यक स्थान नहीं रहेगा।

शुद्ध शिक्षा और राष्ट्रीय शिक्षाके बीच मुझे विरोध नहीं दिखाअी देता। यदि शुद्ध शिक्षा राष्ट्रीय शिक्षाका साधन हो, तो मेरी समझमें शुद्ध शिक्षा राष्ट्रीय शिक्षा देनेकी सबसे सच्ची पद्धति है। सबसे सच्ची

पद्धतिका अर्थ है वह पद्धति जो भावना और बुद्धिकी संशुद्धिके नियमोंका अवलोकन करके और शिक्षकोंके परंपरागत अनुभवोंका विचार करके अैसी अनुकूलता पैदा करती है, जिससे छोटी या बड़ी अुम्रवाली असंस्कारी प्रजा संस्कारी बने। राष्ट्रीय शिक्षा भी जब शुद्ध शिक्षाशास्त्रीके द्वारा दी जायगी, तभी अुसके अुत्तम परिणाम आयेंगे। अिसलिअे राष्ट्रीय शिक्षामें शुद्ध शिक्षाशास्त्रीकी जरूरत है।

राष्ट्रीय शिक्षामें प्रजाके प्रश्नोंका विचार होता है। शुद्ध शिक्षा-शास्त्रीको यह सोचना चाहिये कि ये प्रश्न अुत्तम ढंगसे किस प्रकार हल किये जायं। जैसे जमीनका मालिक यह तय करे कि मुझे अमुक माप और सुविधाओंवाला मकान चाहिये तो अुसे बनाना कुशल मिस्त्रियोंका काम है, वैसे ही शुद्ध शिक्षा शिक्षाकी अिंजीनियरीका शास्त्र है। राष्ट्रीय शिक्षामें अुस शास्त्रका अुपयोग वांछनीय माना गया है।

नवजीवन, ५–२–'२८

४

शिक्षा पर राज्यका अंकुश

क्या शिक्षा पर राज्यका अंकुश होना चाहिये?

१९०५ के बंग-भंगके बाद हिन्दुस्तानमें जो नअी जागृति आयी, अुसमें से स्वराज्य, राष्ट्रीय शिक्षा, स्वदेशी और अंग्रेजी मालका बहिष्कार — यह चतुर्विध कार्यक्रम पैदा हुआ। अंग्रेजोंने जो शिक्षा-प्रणाली शुरू की थी, अुससे असंतुष्ट रहनेवाला अेक दल तो अिससे पहले भी था। अुपरोक्त आन्दोलनके बाद यह असंतोष अितना तीव्र हो गया कि वह राष्ट्रीय क्षेत्रमें भी आ गया।

१९०५ से १९१५ के दरमियान यह आन्दोलन बिलकुल बन्द तो नहीं हो गया, परंतु बहुत मंद जरूर पड़ गया। जिस असंतोषसे अिसे पोषण मिला था, अुसके बंग-भंग रद्द हो जाने पर मिट जानेके कारण यह परिणाम आना स्वाभाविक ही था।

१९१५ के आसपास गांधीजी हिन्दुस्तानमें आये, तबसे राष्ट्रीय शिक्षाके प्रश्नने फिर जोर पकड़ा। गांधीजीने राष्ट्रीय शिक्षाकी स्वतंत्र शाला और योजना खड़ी की, कुछ सिद्धान्त निश्चित किये और काकासाहब आदि कुछ तेजस्वी, विद्वान, अुत्साही, सूझ-बूझवाले और स्वराज्यकी भावनासे ओतप्रोत नवयुवकोंका दल अिकट्ठा करके नअी शिक्षाकी नींव डाली।

अुन्हींके प्रभावसे कुछ ही समयमें सारे देशमें असहयोगका युग आया और अुसीके साथ राष्ट्रीय शिक्षाकी प्रचण्ड बाढ़ आअी। अनेक प्रान्तोंमें राष्ट्रीय विद्यापीठोंकी स्थापना की गअी। अुनमें अुतार-चढ़ाव तो बहुत आये, परंतु अुन्होंने कुछ अैसे सिद्धान्त प्रचलित कर दिये जिन्हें सरकारी संस्थाओंको भी धीरे धीरे मान्य करना पड़ा।

अैसा कहा जा सकता है कि असहयोगके अुस जमानेमें हमारे प्रान्तमें गांधीजीके बाद दूसरे नंबर पर सभी राष्ट्रीय वृत्तिके शिक्षा-शास्त्रियों, लोगों और विद्यार्थियोंके माने हुअे नेता काकासाहब थे। राजनीतिक कार्यकर्ता तथा कुछ पुरानी परंपराके शिक्षाशास्त्रियोंने अुन्हें भले अितना न माना हो, परंतु शिक्षण-संस्थाओं, सामान्य लोगों और तरुण विद्यार्थियोंके लिअे वे लगभग गुरु जैसे ही थे। नानाभाअी गिजुभाअी, हरभाअी, नरहरिभाअी, मुझे और दूसरे कअी नामी अध्यापकों और शिक्षकोंको शिक्षाके क्षेत्रमें नअी नअी वस्तुअें और दृष्टियां देनेवाले वे ही थे। अुस कालमें हममें से कुछ लोग स्वतंत्र रूपसे लिखते दिखाअी देते थे; किन्तु हमारे लेखोंमें बहुत कुछ गांधीजी या काकासाहबके विचारों-की ही प्रतिध्वनि रहती थी।

काकासाहबने अुस जमानेमें जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया, वह यह था कि स्वराज्यमें भी शिक्षा स्वतंत्र यानी राज्यके अंकुशसे मुक्त रहनी चाहिये। मैं मानता हूं कि गांधीजीने भी अुसका समर्थन किया था। 'मानता हूं' कहनेका कारण अितना ही है कि काकासाहब और अुनकी छत्रछायामें हम लोग जितने जोरसे अिस सिद्धान्तका प्रतिपादन करते थे, अुतने जोरसे अुसका प्रतिपादन करनेवाला गांधीजीका कोअी वचन शायद

न खोजा जा सके। यह भी संभव है कि काकासाहब स्वयं आज अुसका अुतने ही जोरसे प्रतिपादन न करें।

आज जो यह प्रश्न अुठाया जाता है अुसका अुद्गम-स्थान कहां है, यह बतलानेके लिअे अितना पूर्व-वृत्तान्त मैंने कहा। अब यह बता दूं कि अितने वर्षोंके अनुभवके बाद अुस विषयमें आज मुझे क्या लग रहा है।

शिक्षा पर राज्यका अंकुश हो या न हो और हो तो कितना हो, यह कोअी स्वतंत्र सिद्धान्त नहीं है। वह अनेक परिस्थितियों पर आधार रखता है।

अेक जमानेमें राज्य शिक्षा पर अंकुश रखता ही नहीं था। राज्यकी अैसी कोशिश ही नहीं रहती थी। अुस समय यह नहीं माना गया था कि प्रजाकी शिक्षाके बारेमें राज्यकी कोअी जिम्मेदारी है। राज्यका अधिकार यह था कि वह प्रजा पर कर लगाये तथा परदेशोंके साथ लड़ाअी करे, और अुसका कर्तव्य यह था कि वह देशकी रक्षा करे, कुछ न्यायदान तथा पुलिस आदिकी व्यवस्था करे, और प्रजामें यदि कहीं गंभीर झगड़े अुठ खड़े हों तो अुन्हें दबाये। शेष सब बातोंमें जनताको पूरी स्वतंत्रता थी। सिक्के बनानेकी स्वतंत्रता भी जनताको बहुत समय तक थी। शिक्षाके बारेमें प्रजाकी अिच्छा हो तो वह शिक्षा ले, न अिच्छा हो तो न ले — निरक्षर रहे। राज्यका द्रोह करनेकी शिक्षा न दे तो अुसे पसंद आये वैसी और अुस ढंगसे वह शिक्षा ले सकती थी। जैसे व्यापार, खेती, मजदूरी आदिके सम्बन्धमें राज्य हस्तक्षेप नहीं करता था, अुसी तरह शिक्षाके क्षेत्रमें भी नहीं करता था। कोअी बड़ा सम्राट् अथवा बादशाह, दूसरे हाकिम या जागीरदार अपनी अिच्छासे शिक्षा-संस्थाओंको दान दें या विद्वानोंकी कद्र करें, तो वह अुनका शौक माना जाता था, कर्तव्य नहीं। हां, दान देनेवालोंकी प्रशंसामें कवि और चारण स्तोत्र बनाते थे।

धीरे-धीरे अिन विचारोंमें परिवर्तन हुआ। राज्यके कर्तव्यके क्षेत्रोंके साथ अुसके अधिकारका क्षेत्र भी बढ़ता ही गया। राज्यकी बागडोर प्रजाके प्रतिनिधियोंके हाथमें आती गअी और साथ ही नित्य जीवनकी अनेक संस्थायें भी। कोअी अपढ़ न रहे, कोअी भूखा या बेकार न रहे,

कोअी राष्ट्र-घातक धन्धा न करे, राष्ट्र-पोषक धन्धोंको योजनापूर्वक अुत्तेजन मिले, प्रजाहितके कुछ व्यवसाय राज्यकी ओरसे ही चलाये जायं, मजदूरोंको पूरी मजदूरी, आवश्यक आराम, अत्यधिक परिश्रमसे मुक्ति आदि मिले, चीजें बनानेवालोंको पूरी कीमत मिले, प्रजाको चीजें बहुत महंगी न मिले आदि आदि सैकड़ों बातोंकी जवाबदारी राज्यके सिर बढ़ती ही गअी। अिसके परिणामस्वरूप राज्यके महकमे — कारखाने बढ़ गये। अेक ओर लोकशाही बढ़ी। लेकिन लोकशाही बढ़ी अिसलिअे नौकरशाही और निष्णातशाही भी बढ़ी। दूसरी ओर अुसीके परिणामस्वरूप कुछ हद तक व्यक्तियों और छोटे-छोटे समूहोंका स्वातंत्र्य भी घटा। यदि राज्य पर प्रजाको शिक्षित और संस्कारी बनानेकी जवाबदारी ही न हो, तो आप किस तरह पढ़ाते हैं, क्या पढ़ाते हैं आदि बातोंमें हस्तक्षेप करनेका अुसे कोअी प्रयोजन ही न रहे। यदि राज्य विदेशी, निरंकुश या जुल्मी हो तो वह ज्यादासे ज्यादा यही ध्यान रखेगा कि आप अैसा कुछ न पढ़ावें जिससे अुसका अस्तित्व खतरेमें पड़े। यदि आप अुसके अनुकूल शिक्षा दें, तो वह कुछ दान या ग्रान्ट भी देगा।

अंग्रेजी राज्य यदि साधारण विदेशी राज्य होता — अुदाहरणार्थ जैसा अेक समय गुजरातमें गायकवाड़का राज्य माना जाता था — तो वह भी शिक्षामें अिससे ज्यादा हस्तक्षेप नहीं करता। परन्तु अुसकी स्थिति विशेष प्रकारकी थी। वह बहुत ही दूर देशसे राज्यका संचालन करता था। अुसे अैसी स्थितिमें राज्य चलाना था जिसमें अुसके मुट्ठीभर अधिकारियोंके मातहत काम करनेवाले सारे कर्मचारी जीती हुअी प्रजामें से ही थे। अुसकी भाषामें सिर्फ मराठी-गुजराती जैसा प्रान्तीय अन्तर ही न था, वह बिलकुल विलक्षण थी। अुसे अपनी संस्कृति और सभ्यताका अभिमान और अुसे हिन्दुस्तानमें दाखिल करनेकी अभिलाषा भी थी। अिसलिअे अुसे अपनी जरूरतके अनुसार और अपने लिअे अनुकूल शिक्षण-तंत्र चलानेकी आवश्यकता मालूम हुअी। परन्तु अिस तरहकी शिक्षा भी सारे देशको देनेकी अुसकी जवाबदारी है, यह अुसने नहीं माना था। अिसलिअे यदि जनता सरकारी अंकुशसे स्वतंत्र राष्ट्रीय शिक्षणकी संस्थायें चलावे, तो अुसमें अुसे कोअी आपत्ति नहीं थी। परन्तु जनता कअी कारणोंसे

सरकारी शिक्षाकी ओर ही आकर्षित हुअी। अिसलिअे जनता स्वयं भी अपनी शिक्षा-प्रवृत्तियां अैसी ही चलाने लगी जिनका मेल अंग्रेजी शिक्षण-पद्धतिसे बैठ सके।

अिसी बीच यूरोपमें यह भावना बढ़ने लगी कि शिक्षाकी जिम्मेदारी सरकारकी है और अुसकी प्रतिक्रिया अिस देशके शासनकर्ताओं और प्रजा दोनों पर हुअी। राज्य शिक्षा-प्रसारकी जिम्मेदारी समझने लगा और प्रजा अिस जिम्मेदारीको पूरा करनेमें होनेवाली ढील पर सरकारकी टीका करने लगी तथा असन्तोष जाहिर करने लगी। नतीजा यह हुआ, और वह स्वाभाविक था, कि जो शिक्षा राज्यको अनुकूल मालूम हुअी वही प्रजाको भी अनुकूल मालूम हुअी, और वह बढ़ने लगी। वह बढ़ती गअी, फिर भी कभी अितनी न फैल पाअी कि जनताकी विशालताके प्रमाणमें अुसे कोअी महत्त्व दिया जा सके।

फिर भी, वह जितनी फैली अुतनी राज्यकी दृष्टिसे ही फैली थी और राज्य विदेशी था, अिसलिअे अुस शिक्षाने पढ़े-लिखों और जनताके बीच दीवार खड़ी कर दी। अिससे देशके विचारशील वर्गमें यह भावना पैदा हुअी कि यह शिक्षा राष्ट्रीय नहीं है। अिस प्रकार राष्ट्रीय-शिक्षा-वादका जन्म हुआ। अुसकी जड़में राजनीतिक असन्तोष तो था ही, अिसलिअे अुसके बारेमें शासनकर्ताओंका यह मत रहा कि राष्ट्रीय शिक्षा यानी अंग्रेजी-राज्य-विरोधी शिक्षा। अिस कारणसे अुसे राज्यकी ओरसे प्रोत्साहन नहीं मिला; अितना ही नहीं, अुस पर कड़ी नजर भी रखी जाने लगी। बेशक, वह राज्यके विरोधियोंका कार्यक्रम था, अिसलिअे अुस शिक्षाका अेक संस्कार पढ़नेवालोंके मन पर राजद्रोहके रूपमें तो पड़ता ही था।

अिस प्रकार सरकारी शिक्षा बनाम राष्ट्रीय शिक्षा जैसे दो पंथ बने।

हम यह न भूलें कि राष्ट्रीय-शिक्षा-वादका निमित्त कारण विदेशी राज्य और अुससे मुक्त होनेकी अिच्छा थी।

बादमें धीरे-धीरे शिक्षा-विभाग प्रजाकीय (गैर-सरकारी) नेताओंके हाथमें आया, भले हम अुन्हें जनताके चुने हुअे प्रतिनिधि न कहें। अब

सरकारी शिक्षा यानी विदेशी-संचालित शिक्षा और अिसलिअे अराष्ट्रीय शिक्षा — यह आक्षेप करनेका अधिकार न रहा। अच्छी हो या निकम्मी, फिर भी वह प्रजाकीय शिक्षा ही बनी। १९३५ के कानूनके अमलमें आनेके बाद वह विभाग फिर चुने हुअे प्रतिनिधियोंके हाथमें ही आया। (अुसमें भी यदि कोअी कमी रह गअी हो तो वह अब बिलकुल पूरी हो गअी है।)

यह विभाग प्रजाकीय बना, फिर भी अैसी स्थितिमें नहीं था कि विदेशी सरकारके बनाये हुअे रास्तेको छोड़ सके। जनताके प्रतिनिधियों, विभागके अधिकारियों तथा निष्णातोंमें किसीको भी दूसरे प्रकारका तंत्र रचनेकी सूझ नहीं थी; आज भी नहीं है। राष्ट्रीय शिक्षाके प्रवर्तकों और अुनकी संस्थाओंकी प्रतिष्ठा अभी भी अच्छी तरह जमी हुअी नहीं मानी जायगी। अिसलिअे प्रतिनिधिगण मौजूदा पद्धतिको आगे बढ़ानेमें तो सफल हो सकते हैं, लेकिन अुसे छोड़कर तेजीसे आगे बढ़नेमें परेशानी अनुभव करते हैं।

अिसलिअे अब राष्ट्रीय शिक्षाका दूसरा अर्थ महत्त्वपूर्ण बन जाता है। वह यह कि जो शिक्षा राष्ट्रके हित, संस्कृति, स्वभाव आदिकी पोषक हो वह राष्ट्रीय शिक्षा है; विदेशी सरकार द्वारा निश्चित किये हुअे मार्गसे दी जानेवाली शिक्षा राष्ट्रीय नहीं है। अिस प्रकार अब जो विवाद है वह प्रचलित शिक्षा और अुसके खिलाफ नअी पद्धति दाखिल करनेकी अिच्छा रखनेवाली शिक्षाके बीच है।

देश स्वतंत्र नहीं था, तब राष्ट्रीय शिक्षाका अर्थ सरकार-द्रोही या गुलामी-विरोधी शिक्षा था; यही अुसका महत्त्वका अंग था। अुसकी सिद्धिके लिअे अुसे सरकारी शिक्षा-विभागसे स्वतंत्र रखनेका तथा सरकारी शिक्षा-विभागसे असहयोग करनेका सिद्धान्त अपनाना आवश्यक था। अैसा कहा जा सकता है कि अिस सिद्धान्तके लिअे अिस अर्थमें अब कोअी आधार नहीं रहा।

अब प्रश्न अिस प्रकारका है। आजका सर्वमान्य सिद्धान्त यह है कि प्रजाको शिक्षित बनानेकी जिम्मेदारी सरकारकी है। अुसके लिअे शिक्षाको अनिवार्य बनाना आवश्यक तथा सरकारके अधिकारकी बात मानी गअी

है। स्वाभाविक यही होगा कि सरकार अपने विचारोंके अनुसार ही शिक्षा-पद्धतिकी रचना करे। सरकार बाह्य रूपमें जनताके प्रतिनिधियोंकी बनी हुअी है। ये प्रतिनिधि वही शिक्षा देंगे, जिसे वे अच्छी और व्यवहार्य समझेंगे। प्रत्येक नागरिकको शिक्षा मिले, यह देखना सरकारका कर्तव्य है। अिसलिअे शिक्षाके अनिवार्य अंग कौनसे हैं और अैच्छिक अंग कौनसे हैं, यह भी सरकारको ही ठहराना चाहिये। और जिन अंगोंको वह अनिवार्य माने, अुन सभीको शिक्षा-संस्थाओंके लिअे — फिर वे सरकारी हों या गैर-सरकारी — अनिवार्य कर दे, तभी अैसा मान सकती है कि वह अपनी दृष्टिसे अपनी जिम्मेदारी अदा कर रही है। अुदाहरणके लिअे, सरकार यदि यह माने कि सभी शिक्षितोंको नागरी, अुर्दू और प्रान्तीय तीनों लिपियां आनी चाहिये, तो वह सभी संस्थाओंके लिअे तीनों लिपियां अनिवार्य करेगी। यदि अुसे लगे कि दो लिपियां काफी हैं, तो वह अैसा करेगी। अुस हालतमें तीसरीका ज्ञान अैच्छिक ही रहेगा। अिसी प्रकार अंग्रेजी, धर्म, कताअी आदिकी शिक्षाके बारेमें भी होगा। अनिवार्य विषयोंको छोड़कर दूसरे चाहे जितने विषयोंकी शिक्षा मिली हो, तो भी पढ़नेवाला सरकारकी दृष्टिसे शिक्षित नहीं माना जायगा। जैसे, सिर्फ वेदपाठी ब्राह्मण या कुरानपाठी हाफिज।

अिसके साथ दूसरी बात यह है कि लोकशाहीमें जनताकी सरकारका अर्थ सर्वमान्य सरकार नहीं होता। वह वफादारी मांगने जितनी तो सर्वमान्य होती है, किन्तु नीति और अमलकी दृष्टिसे वह बहुमतमान्य ही रहती है। अध्यक्षका विशेष मत लेकर ५१ विरुद्ध ५० मत पानेवाली सरकार भी जनताकी ही मानी जायगी। अुसके विचारों और शासन-प्रणालीसे विरोध रखनेवाली अेकाध पार्टी तो रहेगी ही अैसा मानकर चलना ठीक होगा। अेकसे ज्यादा विरोधी पार्टियां भी हो सकती हैं, लेकिन बिलकुल न हों अैसा शायद ही कभी होगा। यह विरोधी पार्टी या पार्टियां आज भले अल्पमतमें हों, लेकिन यदि संप्रदाय वगैराके आधार पर ही बनी हुअी न हों तो अुन्हें भविष्यमें बहुमत पानेकी आशा हो सकती है। सरकारी पक्ष जो शिक्षा देता होगा, अुससे यदि अिन पार्टियोंका कोअी विरोध हो तो वे सरकार पर यह आक्षेप करेंगी कि अुसकी शिक्षा

राष्ट्रहित-वर्धक यानी राष्ट्रीय शिक्षा नहीं है। साम्प्रदायिक पार्टियोंकी भी शिक्षाके बारेमें कुछ विशेष दृष्टि होना संभव है। यदि अुस विशेष दृष्टिको सरकारी शिक्षामें स्थान न मिले, या अपनी संस्थाके विद्यार्थियोंके लिअे भी अुसे अनिवार्य करनेकी छूट न हो, तो अुन्हें भी सरकारी शिक्षासे स्वतंत्र रहना जरूरी मालूम हो सकता है। जैसे, कोअी अीसाअी स्कूल सब विद्यार्थियोंके लिअे बाअिबलके वर्गमें बैठना अनिवार्य करना चाहे, परन्तु सरकारी नियमोंमें अुसकी मनाही हो।

अिस प्रकार शिक्षाके बारेमें सरकारके विरोधी पक्षके तथा खास सम्प्रदायोंके अलग-अलग मार्ग रहें, यह स्वाभाविक है। अुनमें विरोधी पक्ष अपने मार्गको राष्ट्रीय शिक्षा कहेगा और सरकारी शिक्षाको अराष्ट्रीय; और संभव है वह सरकारी शिक्षासे स्वतंत्र रहनेका भी आग्रह रखे। यदि सरकारी नियम अुसमें विघ्नरूप बनें, तो अुसका यह मत रहेगा कि शिक्षा-संस्थाओं पर राज्यका अंकुश नहीं होना चाहिये। परन्तु अिस मतका अर्थ अितना ही समझना चाहिये कि जब तक अुस पक्षका बहुमत नहीं होता तभी तक अुसका अैसा मत है। यदि कल अुस पक्षकी सरकार बन जाय तो वह भी अपने मतके अनुसार अंकुश रखेगा ही। अुदाहरणके लिअे, यदि आजकी सरकारका यह मत हो कि राष्ट्रभाषाका अर्थ देव-नागरी तथा अुर्दू दोनों लिपियोंमें लिखी जानेवाली हिन्दी-अुर्दू-मिश्रित हिन्दुतानी है और वह अुसे अनिवार्य कर दे, तो वह हिन्दी-प्रचारकोंकी दृष्टिमें राष्ट्रीय शिक्षा नहीं बल्कि भाषा और लिपिका संकर करनेवाली, अशुद्ध तथा बेढंगी शिक्षा देनेवाली अराष्ट्रीय प्रथा मानी जायगी; और चूंकि वह अनिवार्य होगी, अिसलिअे हिन्दी-प्रचारक शिक्षाको राज्यके अंकुशसे स्वतंत्र रखनेकी हिमायत करेंगे। परन्तु यदि कल शासन-सूत्र अुनके हाथमें चला जाये, तो वे अुर्दू भाषा और लिपिको सरकारी शालाओंसे निकाल देंगे, और हिन्दुस्तानी पुस्तकोंको अमान्य करके शुद्ध हिन्दी पुस्तकें चलायेंगे। अुस समय आजका सरकारी पक्ष अुसे अराष्ट्रीय कहेगा, और खुदको अनुकूल मालूम होनेवाली पुस्तकें चलानेकी स्वतंत्रता चाहेगा।

अिस प्रकार सरकारी शिक्षा और राष्ट्रीय शिक्षा बड़े दल और छोटे दलके शिक्षण-मार्गोंके ही दूसरे नाम बन जाते हैं। छोटे दलकी

रायमें सरकारी शिक्षा अराष्ट्रीय होगी, भले ही अुसे जनताके प्रचंड बहुमतका समर्थन प्राप्त हो।

हरअेक देशमें अैसा कुछ तो होता ही रहेगा। जिसके खास संप्रदाय हैं या जो सरकारका प्रतिस्पर्धी पक्ष है, वह छोटे पैमाने पर भी अपनी अलग संस्थायें चलानेका आग्रह रखेगा ही। यदि अुसकी प्रणालीमें अैसी कोअी बात होगी जिससे सरकारकी हस्तीको खतरा पहुंचनेकी संभावना हो, तो अुसे सरकारी दमनका सामना करनेका भी मौका आ सकता है।

सरकार पर प्रजाकी शिक्षाकी जवाबदारी है, अैसा निश्चित कर देनेके बाद यह नहीं हो सकता कि सरकारका शिक्षा पर किसी तरहका अंकुश न रहे। शिक्षा-विभाग ज्यादासे ज्यादा अितनी ही स्वतंत्रता भोग सकता है कि सरकार समय-समय पर जो नियम बनाये, अुनके अनुसार शिक्षाका तंत्र चलानेमें दूसरे अधिकारियों या विभागोंका हस्तक्षेप अुनके काममें बाधक न हो। जैसे न्याय-विभागके बारेमें होता है।

लोकशाही तंत्रमें सरकारी पक्षसे भिन्न विचार रखनेवाले पक्षोंको जैसे दूसरी बातोंमें अपना बहुमत बनाकर सरकारकी बागडोर अपने हाथमें लेनी पड़ती है, वैसे ही शिक्षाके विषयमें भी करना होता है। सरकार मानी जाती हो लोकतांत्रिक, लेकिन हकीकतमें तानाशाही ढंगकी हो, तो तीव्र परिस्थितिमें असहयोग, बहिष्कार या सत्याग्रहके दूसरे अुपाय काममें लेनेका भी प्रसंग आ सकता है। यह सिर्फ शिक्षाके ही क्षेत्रमें संभव नहीं है; सभी प्रकारके राज्यतंत्रोंमें अैसी स्थिति अुत्पन्न हो सकती है।

'शिक्षण अने साहित्य', अक्तूबर १९४७

५

'विशारद'* का अध्ययन

अनुभवसे नये स्नातकोंको कुछ देने जैसा हो, तो मैं अुन्हें अेक भूलसे मुक्त होनेकी बात कहूंगा। मेरे अेक मित्र कहा करते थे : After graduation comes humiliation (स्नातक होनेके बाद अपमान और तिरस्कारका अनुभव होता है)। वस्तुतः कअी बार यह सच होता है। किन्तु बारीकीसे विचार करने पर मालूम होगा कि स्नातकके मनमें अपने विषयमें जो अेक भ्रमपूर्ण कल्पना रहती है, वही अिसका कारण होती है। बहुतेरे स्नातकोंकी यह कल्पना होती है कि जैसे कारखानेसे बनकर निकले हुअे मालका अमुक बाजार-भाव होना ही चाहिये, अुसी तरह स्नातक बनकर निकलते ही अुन्हें समाजमें अमुक कीमत तथा अमुक प्रतिष्ठा मिलनी ही चाहिये। कड़वे अनुभवोंके बाद अुन्हें मालूम हो जाता है कि वे खुद कारखानेके मालकी तरह जड़ नहीं हैं, अिसलिअे अुनकी अमुक कीमत निश्चित नहीं की जा सकती; और परावलम्बी जीवन बितानेके लिअे अुम्मीदवारी करनेवालेको प्रतिष्ठाका खयाल भी छोड़ देना पड़ता है।

अिसका पता लगानेमें स्नातकको जो निराशाका अनुभव होता है, अुसका कारण अुसकी अपनी ही भूल होती है। वह अिसकी छानबीन करेगा, तो पायेगा कि विशारद (या बी० अे०) तकका पाठ्यक्रम सामान्यतः अिस अुद्देश्यसे रचा ही नहीं जाता कि वह आजीविकाका साधन बन सके। वह तो विद्या-व्यासंगियोंका ही पाठ्यक्रम रहता है। यह पाठ्यक्रम अुनके लिअे है जिन्हें भाषा, अितिहास, संपत्तिशास्त्र आदि पांडित्यके अनेक विषयोंमें रस है और जो अिनका अधिक रसास्वादन करना चाहते हैं। वे यदि 'विशारद' तक अपनी पढ़ाअी चालू रखें तो केवल विद्याप्राप्तिकी रुचिके कारण ही रख सकते हैं। अिसलिअे विशारद हो

* गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबादकी अेक अुपाधि।

जानेके बाद अुससे आजीविका कमानेकी अिच्छा करना अेक प्रकारके बीजसे दूसरे प्रकारका फल प्राप्त करनेकी अिच्छा रखने जैसा माना जायगा। आम तौर पर तो विशारदको भी आजीविकाके लिअे विशेष योग्यता प्राप्त करनी चाहिये, और वह योग्यता जिस धंधेके द्वारा आजीविका प्राप्त करनी हो, अुसमें अुम्मीदवारी करके ही प्राप्त की जा सकती है। अिस प्रकार यदि स्नातक हो जानेके बाद वह अपने-आपको आजीविका देनेवाली विद्याका विद्यार्थी समझे, तो कअी स्वारोपित श्रेष्ठताओंके विचारों और महान आशाओंको छोड़ देगा, और विद्यार्थीके जैसी ही नम्रता और शिष्यभाव अपने भीतर कायम रखेगा। अैसे स्नातकके लिअे अूपर लिखा हुआ अंग्रेजी वाक्य दुःखसे कहनेका प्रसंग नहीं आ सकता। स्नातक मानता है कि अब वह शिष्य नहीं रहा, अब वह धन और मानके योग्य हो गया है। किन्तु वह शिष्य नहीं रहा हो तो सिर्फ कुछ विशेष विद्याओंके सम्बन्धमें ही, धनप्राप्ति या आजीविका-प्राप्तिकी विद्याके बारेमें तो वह शिष्य ही है। वहां तो अुसे पुनः नम्रभाव, शिष्यभावसे अुम्मीदवारी ही करनी चाहिये।

यह सच है कि शुरूके जमानेमें और आज भी कुछ लोगोंके लिअे स्नातक होते ही आजीविकाके मार्ग खुल जाते हैं। किन्तु वे अपवाद-रूप हैं। अुन अपवादोंके कारण भी अलग हैं। अुनके लिअे विशारदका पाठ्यक्रम आजीविकाकी दृष्टिसे गढ़ा गया हो सो बात नहीं। परंतु कुछ धंधोंमें केवल अंग्रेजी भाषा पर अच्छा अधिकार होना ही विशेष योग्यताके रूपमें माना जाता है; अिसलिअे अुनमें अंग्रेजीके अधिकारका आर्थिक मूल्य मिलता है। लेकिन यह बात हर धंधेको लागू नहीं हो सकती। अिसके अलावा बड़े-बड़े लोगोंकी जान-पहचान, प्रभाव वगैरासे होनेवाले फायदे भी सामान्य नियममें नहीं माने जा सकते। सामान्य नियम तो यही होना चाहिये कि हर स्नातक यह माने कि अभी तक अुसके भीतर जितनी अुमंग और अुत्साह था अुतनी विद्याकी अुपासना अुसने की, अब कुछ आजीविकाके लिअे **सीखे**।

नवजीवन (केळवणी अंक), २५-१-'२५

६

मनुष्यताकी, प्रतिष्ठाकी और निर्वाहकी शिक्षा

विद्यापीठ कार्यालयकी ओरसे स्नातकोंको अुनकी प्रवृत्तिके बारेमें कुछ प्रश्न पूछे गये थे। कुछ स्नातकोंके अुत्तर आ चुके हैं, दूसरोंके आ रहे हैं। बहुत ही थोड़े स्नातकोंको अपना भविष्य आशाजनक और वर्तमान स्थिति संतोषकारक मालूम होती है। अधिकतर अुत्तर निराशाभरे और चिन्तासे पूर्ण हैं तथा चिन्ता पैदा करनेवाले हैं। अेक-दो स्नातक तो करुणा-जनक स्थितिमें दिन बिता रहे हैं। यहां सभी अुत्तरोंका सार देनेका विचार नहीं है, केवल अुन अुत्तरों परसे पैदा होनेवाले कुछ विचारोंको ही पेश करना चाहता हूं।

अुसके पहले स्नातकोंके आश्वासन (?) के लिअे अेक-दो बातें स्पष्ट कर दूं।

स्नातक होनेके बाद निर्वाहके लिअे अनुकूल धंधा पानेकी कठिनाअी घटी हुअी नहीं मालूम होती। यदि गुजरात विद्यापीठके स्नातकोंका यह खयाल हो कि यह बात अुन्हीं पर लागू होती है तो यह अुनका भ्रम है। पहले अेक बार मैं कह चुका हूं और आज फिर कहता हूं कि यह प्रश्न सभी स्नातकोंको समान रूपमें परेशान करता है। मेरा निरीक्षण तो यह है कि हममें से बहुतेरे स्नातकोंका बी० अे०, अेम० अे०, अेल-अेल० बी० तकका अभ्यास कुछ अिस प्रकारकी परिस्थितिमें बढ़ता है : अंग्रेजीकी पांचवीं या छठी कक्षा तक, यानी लगभग १५ या १६ वर्षकी अुम्र तक कौटुम्बिक स्थितिकी बहुत चिन्ता किये बिना अभ्यास चलता रहता है। अिसके बाद घरकी स्थितिका कुछ ज्यादा खयाल होने लगता है, अपनी जिम्मेदारीका कुछ कुछ भान होता है; हम समझने लगते हैं कि पढ़ाअीका खर्च देना माता-पिताको कठिन होता है। परंतु अितनी कच्ची अुम्रमें क्या किया जाय, यह प्रश्न माता-पिताके और हमारे भी मनमें अुठता है। परन्तु कोअी अुत्तर नहीं मिलता। हमारी पढ़ाअीकी अुमंग तो कायम ही

रहती है, मित्रवर्गकी ओरसे अनुकूल प्रोत्साहन भी मिलता है। अिसलिअे यह होता है कि जब यहां तक गाड़ी खींच लाये तो अब मैट्रिक हो जायें। लेकिन मैट्रिकके बाद क्या किया जाय? फिर कुटुम्ब और मित्रोंकी सभा बैठती है, विचार-विमर्श आरंभ होता है। परंतु कोअी निश्चित हल नहीं दिखाअी देता। कुटुम्बके प्रति अपनी जिम्मेदारीका हमें भान होते हुअे भी आगे पढ़नेकी हमारी अुमंग मन्द नहीं पड़ती। ज्यादा पढ़कर कुटुम्बकी यह स्थिति सुधारनेकी आशा भी सबको रहती ही है। कौटुम्बिक स्थिति बिलकुल खराब न हो और परीक्षा पास करनेमें हम निरे बुद्धू न हों तो दूसरे किसी हलके अभावमें हम कॉलेजमें भरती होनेके निर्णय पर पहुंच जाते हैं। आजकी चिन्ताको चार वर्षकी अवधि देकर आगे ठेल देते हैं। अैसा करते-करते बी० अे० हुअे कि फिर वही प्रश्न सामने आकर खड़ा होता है। और फिर कोअी संतोषकारक अुत्तर नहीं मिलता। अिसलिअे फिर अेल-अेल० बी० पास करनेके निर्णयकी ओर खिंच जाते हैं। अिस प्रकार हममें से ज्यादातर विद्यार्थियोंका अभ्यास अुत्तरोत्तर आत्म-निर्णयसे नहीं बढ़ता, बल्कि जीवन-निर्वाहकी पद्धतिके बारेमें किसी संतोषकारक निर्णय पर न पहुंच सकनेके कारण मजबूरीसे आगे बढ़ता है। अिस स्थितिके कारण बी० अे०, अेल-अेल० बी० या स्नातक हो जानेके बाद चारसे छह वर्ष तक आगे ठेली जाती रही चिन्ता हृष्ट-पुष्ट होकर यदि कष्ट देनेके लिअे आ खड़ी हो तो अुसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिये। यह कठिनाअी सिर्फ विद्यापीठके स्नातकोंके लिअे ही है या नअी है, यह खयाल भ्रमपूर्ण है। 'अेम० अे० बनाके मेरी मिट्टी क्यों खराब की?' जैसी ग्रेज्युअेटोंकी दयाजनक स्थितिका दर्शन करानेवाली कथायें आजकलकी नहीं है। ग्रेज्युअेटोंकी चिन्ताके प्रश्नको हल करनेके विचारमें से भी कुछ हद तक देशमें समय-समय पर राष्ट्रीय शिक्षाकी चर्चा और आन्दोलनकी अुत्पत्ति हुअी है।

विद्यापीठके कुछ स्नातकोंने अेक बात यह कही है कि विद्यापीठके स्नातक होनेके कारण ही कअी जगह अुनका अनादर हुआ है। अुनसे कहा गया कि 'हमें तो सरकारी डिग्रीवाले लोग चाहिये!' मैं जानता हूं कि किसी कामके लिअे मनुष्यकी आवश्यकता होते हुअे भी हमारे देशमें

अैसे लोग हैं जिन्हें सरकारी डिग्रीवाले मनुष्यके प्रति विशेष श्रद्धा होती है। जिन्हें विशेष रूपमें अपने आदमी कहा जा सके, अैसे लोगोंके प्रति अश्रद्धा — आत्म-विश्वासकी कमी — हमें गुलाम बनाये रखनेवाले अनेक कारणोंमें से अेक महत्त्वका कारण है। यह रोग हिन्दू जनतामें विशेष मात्रामें पाया जाता है। राष्ट्रीय संस्थाकी डिग्रीकी अपेक्षा सरकारी संस्थाकी डिग्रीको विशेष मान देनेकी, देशकी डिग्रीकी अपेक्षा विदेशकी डिग्रीको विशेष मान देनेकी हमारी आदत जरूर है। परंतु अुससे यह न समझा जाय कि अूपरका अुत्तर अिस आदतका ही परिणाम है। बहुतेरे मनुष्योंका यह स्वभाव होता है कि जिस कारणसे किसी अुम्मीदवारको न रखनेकी या दूसरा कोअी काम न करनेकी अुनकी अिच्छा हो वह सही कारण न बताकर दूसरा ही कोअी कारण वे बतलाते हैं। मनुष्यकी तीव्र आवश्यकता न हो, या कोअी अुम्मीदवार व्यक्तिगत रूपमें पसन्द न आता हो, या अुसे कुछ सस्ते वेतन पर रखनेकी वृत्ति हो, तो 'हमें दूसरी तरहका मनुष्य चाहिये' अैसा अुत्तर धंधेदारोंकी जातिमें सौम्य माना जाता है। अिस प्रकारका थोड़ा असत्य अुत्तर विनम्र अुत्तर माना जाता है।

किन्तु यह कठिनाअी पुरानी है, या सर्वसामान्य है, या अिस अुत्तरमें सौम्य असत्य है, यों कहनेसे स्नातकोंके लिअे कोअी रास्ता खुल नहीं जाता। यह समझकर ही मैंने अूपर 'आश्वासन' शब्दके बाद प्रश्नचिह्न रखा है।

जब लम्बे समयसे शरीरमें रोग घर किये बैठा हो, तब रूढ़ मार्गसे जीवन व्यतीत करनेकी पद्धति जारी रखकर दवादारूसे रोग दूर करनेकी युक्तियां आजमाते रहनेमें मेरा विश्वास नहीं है। रोगीको अपनी जीवन बितानेकी पद्धतिकी ही जांच करनी चाहिये। अुसकी जीवन बितानेकी पद्धतिके मूलमें ही कहीं त्रुटि होनी चाहिये, और अुस त्रुटिको दूर किये बगैर रोगसे मुक्त नहीं हुआ जा सकता। संभव है अुस पद्धतिसे दूसरोंको वह रोग न होता हो, लेकिन अितना अुसे अपनी तासीरका बुनियादी फर्क समझना चाहिये। यह भी संभव है कि लंबे समयकी आदतके कारण वह त्रुटि निकालना कठिन हो; कौनसी त्रुटि है यह खोजनेके बदले दूसरी अच्छी पद्धति कौनसी है यह खोजना भी तत्काल

संभव न हो; फिर भी यदि कभी समाधान होना होगा तो वह मौजूदा जीवन-पद्धतिको बदलकर अुसकी जगह ज्यादा अच्छी पद्धति दाखिल करनेसे ही हो सकेगा।

अिस न्यायसे मैं मानता हूं कि शिक्षासे हमारी क्या अपेक्षा है और हमारी शिक्षा हमें क्या दे सकती है, अिसकी तात्त्विक दृष्टिसे खोज किये बगैर स्नातकोंकी कठिनाअियोंका हल नहीं मिल सकता। हमारा आजका प्रयत्न अिसी दिशामें चल रहा है।

शिक्षासे मिलनेवाले फलोंके आधार पर मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि शिक्षा तीन प्रकारकी होती है। कुछ शिक्षा तो केवल हमारी मनुष्यताको बढ़ानेके लिअे होती है। वह हमारी भावनाओंका — गुणोंका विकास करती है। हमें मनुष्यके रूपमें विशेष अुन्नत बनाती है। मनुष्य जो सत्पुरुषका समागम करता है वह कोअी निर्वाहकी पद्धति ढूंढ़नेके लिअे नहीं, बल्कि अुसके भक्ति, साधुता, त्याग, सतर्कता आदि गुणोंके लिअे।

दूसरे प्रकारकी शिक्षा हमें प्रतिष्ठा देनेवाली होती है। पण्डित तथा बहुश्रुतके रूपमें या किसी विद्याके प्रखर विद्वानके रूपमें वह समाजमें हमारी प्रतिष्ठा बढ़ानेवाली होती है। महाविद्यालयमें हम जो शिक्षा लेते हैं, वह आम तौर पर अिसी प्रकारकी मानी जायगी।

तीसरे प्रकारकी शिक्षा हमारा अुदर-निर्वाह करनेके लिअे है, जैसे वकीली, डॉक्टरी, बढ़अीगिरी, चमारी, किसानी, जुलाहागिरी आदि।

शिक्षासे जिस प्रकारके फल पानेकी अिच्छा हो, अुसीके अनुसार विद्यार्थीको शिक्षक ढूंढ़ना चाहिये। सत्पुरुषके समागमसे हमारा चरित्र अुच्च होगा, अुसके कारण समाजमें हमारी अच्छी साख जमेगी और सम्भव है अुससे हमारा धंधा ज्यादा अच्छा चलने लगेगा। किन्तु वह तो अैसी शिक्षाका गौण फल माना जायगा। वह चरित्रकी शिक्षाका निश्चित फल नहीं कहा जा सकता। अुलटे, यदि मुक्तानन्द स्वामीके शब्दोंमें कहें तो यह भी हो सकता है कि :

"मधुकर, वात मोहनवर केरी,
जादुगारी जोर रे;

नरनारी अेने गाये सुणे ते
त्यागे संसारनो तोर रे.[1]

* * *

तथा

धन, दोलत, घरबार न अेने
भमता फरे रानोरान रे.[2]

* * *

जे कोअी जगमां अेने अनुसरशे
तेना ते भवाडा गाय रे;
मुक्तानन्दना नाथने सेवी
जग छतरायां थाय रे."[3] (अुद्धवगीता)

अिसी तरह हो सकता है कि प्रतिष्ठाकी शिक्षाके परिणाम-स्वरूप अच्छी तरह निर्वाह हो सके अैसा अध्यापन, लेखन अित्यादिका काम मिल जाय। किन्तु वह भी अुसका गौण फल माना जायगा। अुसका मुख्य फल तो अुसके द्वारा शिक्षित-विद्वानकी प्रतिष्ठा मिले अितना ही है।

जिसे जीवन-निर्वाहकी शिक्षा प्राप्त करनी हो, अुसे अुस विद्याके शिक्षकके पास जाना चाहिये। जिसे व्यापारी होना हो, अुसे व्यापारीके पास अुम्मीदवारी करनी चाहिये। वाणिज्यका स्नातक बननेसे व्यापारी

---

१. हे मधुकर, मोहनकी बात तो जबरदस्त जादूसे भरी है। जो स्त्री-पुरुष अुसे गाते-सुनते हैं वे संसारका अहंकार छोड़ देते हैं।

२. अुनके पास धन, दौलत, घरबार वगैरा कुछ नहीं होता। वे तो जंगल-जंगल भटकते फिरते हैं।

३. संसारमें जो कोअी अुनका अनुसरण करेगा, अुसकी अिसी तरह फजीहत होगी। मुक्तानन्द कहते हैं कि अुनके नाथकी सेवा करनेवालेको संसारका सारा रहस्य मालूम हो जाता है।

नहीं बना जा सकता, वाणिज्य विषयके अध्यापक बन सकते हैं; और बहुत हुआ तो व्यापारीके सहायक बन सकते हैं। अिसी प्रकार जिसे मिलका अिंजीनियर बनना हो अुसे वहीं अुम्मीदवारी करनी चाहिये। बढ़अी बनना हो तो बढ़अीके यहां अुम्मीदवारी करनी चाहिये। ये धंधे यदि महाविद्यालयोंमें सिखाये जायं तो अुसका प्रयोजन मैं अितना ही मान सकता हूं कि अुन धन्धोंको चलानेवाले लोग अुन्हें व्यावहारिक रूपमें जानते हैं, किन्तु अुनके शास्त्रीय ज्ञानके अभावमें वे अुनसे पूरा फायदा नहीं अुठा सकते। यदि अुन धन्धोंका शास्त्र विद्यार्थियोंको समझा दिया जाय, तो वे अुससे विशेष लाभ अुठा सकते हैं। लेकिन अुससे यह न समझा जाय कि महाविद्यालयमें पढ़ लेनेके बाद धन्धेदारोंके यहां अुम्मीदवारी करनेकी आवश्यकता कम हो जाती है।

यह बात न समझनेके कारण सरकारी अेवं राष्ट्रीय विद्यापीठके विद्यार्थी जो शिक्षा प्राप्त करते हैं, अुससे दूसरे ही प्रकारके फलकी अिच्छा रखते हैं; और वह फल जब निश्चित समयमें नहीं मिलता, तो निराश होकर शिक्षाको दोष देने लगते हैं।

गुजरात विद्यापीठका मुख्य ध्येय तो विद्यार्थियोंकी मनुष्यताका पोषण करना है; स्वराज्यके बिना भारतवासियोंकी स्थिति शर्मनाक है अिस बातका अुन्हें भान कराना है; और यह भान करानेके बाद अुस धर्मको सिद्ध करनेके लिअे तथा स्वराज्यके यज्ञमें अपने-आपको होम देनेके लिअे अुन्हें तैयार करना है। कहा जा सकता है कि विद्यापीठने यह आशा ही नहीं रखी थी कि अुसमें आनेवाले विद्यार्थी यह भी न जानते होंगे कि अपना जीवन-निर्वाह किस प्रकार किया जाय। यह मान लिया गया है कि निर्वाह प्राप्त करनेके लिअे जितने साहस, अुत्साह और पुरुषार्थकी आवश्यकता है, अुससे तो कहीं ज्यादा मात्रामें ये गुण लेकर वे लोग यहां आयेंगे।

लेकिन प्रतिष्ठाकी शिक्षाको भी आज विद्यापीठमें स्थान दिया गया है। सरकारी कॉलेजोंका तो कहा जा सकता है कि यही मुख्य क्षेत्र है। विद्यापीठमें अुसे गौण स्थान दिया गया है, यद्यपि यह भी लग सकता है कि मुख्य स्थान अुसीने छीन लिया है। अठारह-बीस वर्षकी अुम्रमें

अुच्च वर्णके युवकोंमें विद्याप्राप्तिकी अुमंग अत्यंत तीव्र होती है। यह सच है कि बहुधा अिस अुमंगका अनुचित प्रमाणमें और विशेष महत्त्वकी जवाबदारियोंकी अवगणना करके पोषण किया जाता है। फिर भी चूंकि यह नहीं कहा जा सकता कि वह सर्वथा दोषपूर्ण ही है, अिसलिअे अुसके पोषणको 'आगे बढ़े हुअे' समाजमें थोड़ा स्थान देना अनिवार्य होता है। परन्तु यह मान लेनेमें कोअी हर्ज नहीं कि विद्यार्थीको अपने जीवन-निर्वाहकी चिन्ता नहीं रहती। वह केवल विद्यार्थीकी अुमंगसे ही कॉलेज या महाविद्यालयमें भरती होता है। कुछ हद तक यह कहा जा सकता है कि महाविद्यालयमें या तो विद्याप्रेमी या खुशहाल युवकोंके लिअे स्थान है या फिर अैसे युवकोंके लिअे जो भिखारीकी स्थिति भोगते हुअे भी अपना विद्याप्रेम नहीं छोड़ सकते।

परन्तु जिन्हें १५-१७ वर्षकी अुम्रमें ही जीवन-निर्वाहका प्रश्न हैरान करने लगता हो, वे भाषा-विशारद या अितिहास-विशारद बननेका प्रयत्न करें — और यदि भिखारीका जीवन बितानेकी अुनकी तैयारी न हो — तो वे भूल करते हैं। वे अपना निर्वाह किस ढंगसे करना चाहते हैं यह अुन्हें निश्चित करना चाहिये; और जो अुस ढंगसे अपना जीवन-निर्वाह चलाता हो अुसके यहां अुम्मीदवारी करनी चाहिये। यदि अुसमें अुन्हें विशेष कुशलता प्राप्त करनी हो तो जहां अुसका शास्त्रीय ज्ञान मिले वहां अुन्हें जाना चाहिये। शायद यह कहा जाय कि 'प्रतिष्ठित' शिक्षा पाये हुअे कुछ लोग शिक्षा लेनेके बाद केवल विद्याकी प्रतिष्ठा ही नहीं, बल्कि धनकी प्रतिष्ठा भी प्राप्त कर सकते हैं, और जीवन-निर्वाहके मार्गोंमें 'प्रतिष्ठित' शिक्षाके द्वारा ही प्रवेश किया जा सकता है। किन्तु विचार करने पर मालूम होगा कि अुसके पीछे 'प्रतिष्ठित' शिक्षाकी अपेक्षा दूसरे ही कारण हैं। 'प्रतिष्ठित' शिक्षा पानेवालेको अध्यापन कार्यके सिवा दूसरे किसी धन्धेमें शेक्सपियर या कालिदासके गहरे ज्ञानके कारण या अितिहास, अर्थशास्त्र अथवा तत्त्वज्ञानमें पहले नम्बरसे पास होनेके कारण अच्छी नौकरी मिली हो अैसा कहीं नहीं सुना। अुसे जो अूंचा नम्बर मिला है वह अितना ही अनुमान करनेके लिअे अुपयोगी हो सकता है कि अुसकी बुद्धि तीव्र है तथा अुसकी अंग्रेजी अच्छी होगी। कोअी यह नहीं मानता

कि अुसके धंधेके लिअे अुसे शेक्सपियरका ज्ञान होना चाहिये। अुसमें आखिर तो अुसकी तीव्र बुद्धि, मेहनत और कभी कभी जान-पहिचान या वसीला ही अुसकी सहायता करते हैं। मतलब यह है कि 'प्रतिष्ठित' शिक्षामें से सीधी तरह जीवन-निर्वाहका फल अुत्पन्न नहीं होता।

तब शायद यह प्रश्न अुठेगा कि क्या गरीब युवकोंको 'प्रतिष्ठित' विद्या पानेका अधिकार नहीं है? क्या समाजको अैसी व्यवस्था नहीं करनी चाहिये, जिससे अुन्हें भी विद्याके सब लाभ मिल सकें? बेशक, अैसा होना चाहिये; पर आज तो 'प्रतिष्ठित' कही जानेवाली विद्यायें फुरसत पा सकनेवाले लोग ही ग्रहण कर सकते हैं। अिस स्थितिमें विषमता भी है, किन्तु यह तो आजकी वस्तुस्थिति है। फिर भी यदि गरीब युवक पुरुषार्थी और वीर्यवान हो, तो वह भी विद्वान हो सकता है। सिर्फ अुसे अपने समय-पत्रकमें थोड़ा परिवर्तन करना होगा। हममें से बहुतेरे युवकोंकी परीक्षायें पास कर लेनेके बाद ज्ञान-पिपासा ही मर जाती है। दो-चार वर्षमें ही अुनकी विद्या-प्राप्तिकी अुमंग पूरी (?) हो जाती है। विद्यार्थी-दशा और अविद्यार्थी-दशा — अिस तरह जीवनके दो भाग करना वस्तुतः भूल है। समनस्क और शुचि मनुष्यके जीवनमें अविद्यार्थी-दशाके लिअे स्थान ही न होना चाहिये। मनुष्य चाहे जितने व्यवसायों या चिन्ताओंमें पड़ा हो, फिर भी अुसे ज्ञान-पिपासाके लिअे सतत कुछ-न-कुछ अुद्यम करते रहना चाहिये। यदि गरीब विद्यार्थी यह बात समझ ले तो वह तीन-चार वर्षमें अपनी ज्ञान-पिपासा तृप्त कर डालनेकी अुतावलीमें नहीं पड़ेगा। तीन चार वर्षमें मिलनेवाले ज्ञानको वह जीवनपर्यन्त धीरे-धीरे प्राप्त करता रहेगा। यह ज्ञान चूंकि परीक्षाके बोझसे दबकर नहीं बल्कि अपनी रुचिसे प्राप्त किया जायेगा, अिसलिअे वह विशेष लाभदायक होगा।

लेकिन यदि विद्यार्थी अैसा न करें तो अुन्हें अिसके लिअे विशेष समय देने और तब तक धीरज रखनेके सिवा कोअी चारा नहीं है। वे मनुष्यताकी शिक्षा लें, अुमंग हो वहां तक प्रतिष्ठाकी शिक्षा लें, और अुसके बाद निर्वाहकी शिक्षाके लिअे फिरसे अुम्मीदवारी करनेको तैयार रहें। यदि कोअी कबीर जैसा शिक्षक मिल जाय, जो मनुष्यताकी शिक्षा भी दे सके, अपने समयकी 'प्रतिष्ठित' विद्याओंकी शिक्षा भी दे सके, और साथ ही

बुनाअी जैसे निर्वाहके धन्धेकी शिक्षा भी दे सके, तो वह अमूल्य लाभ माना जायगा। लेकिन अैसा शिक्षक सभीको नहीं मिल सकता। अुन्हें तो क्रमसे सभी प्रकारके शिक्षकोंका शिष्यत्व स्वीकार करना होगा; नहीं तो निराशाके सिवा और कुछ भी पल्ले न पड़ेगा।

नवजीवन (केळवणी अंक), २९-११-'२५

७

शिक्षणमें भावनाओंका विकास

पूज्य गांधीजी बार-बार कहते आये हैं कि आप अपने बालकोंको पहले मनुष्य बनायें, फिर अक्षरज्ञान दें। शिक्षणका अर्थ केवल अक्षरज्ञान नहीं होता। अक्षरज्ञानका अर्थ मनुष्यत्व नहीं होता।

हमारा लड़का रवीन्द्रनाथ टागोर जैसा कवि बन जाय, जगदीशचन्द्र बोस जैसा रसायनशास्त्री हो जाय, भास्कराचार्य जैसा ज्योतिषी बन जाय, चिकित्साशास्त्रमें अपना कोअी सानी न रखता हो, पाकशास्त्रमें प्रवीण हो जाय, संगीतशास्त्रमें पंडित विष्णु दिगम्बरको हरा देनेकी क्षमता रखता हो, वाद-विवादमें सभी शास्त्रियों और वकीलोंको जीत सकता हो और वक्तृत्वमें सुरेन्द्रनाथ बेनरजीसे आगे बढ़ जाय, फिर भी संभव है कि अुसमें मनुष्यत्व न आया हो।

अिसके अलावा, संभव है वह जैमिनि जैसा कर्मकाण्डी हो, साम्प्रदायिक विधियोंका यथाशास्त्र पालन करनेवाला हो, और फिर भी मनुष्य न बना हो।

मनुष्यत्वका अर्थ क्या?

शरीरकी तालीम महत्त्वकी है; किन्तु बलवान तो हाथी भी होता है।

बुद्धिकी सूक्ष्मता महत्त्वकी है; परन्तु कर्तृत्व (पुरुषार्थ) के बिना बुद्धि वन्ध्या है।

मनुष्यत्व सौंदर्यमें भी नहीं है। मनुष्यके शरीरको कितना ही सजाया जाय, लेकिन अुसमें पक्षियोंका नैसर्गिक सौंदर्य नहीं आ सकता।

शरीरकी रक्षा करना प्राणीमात्रका स्वभाव है। लेकिन कुत्ते, घोड़े जैसे कुछ पशु अपने स्वामीके लिअे शरीर कुरबान कर देते हैं। कोअी-कोअी पक्षी अपने साथीके वियोगसे शरीर छोड़ देते हैं। युद्धमें पीठ दिखानेकी अपेक्षा हमारे राजपूतोंको मौत अच्छी लगती थी। दिवालिया बननेकी अपेक्षा वैश्यको मर जाना ज्यादा अच्छा लगता था।

मनुष्यका मनुष्यत्व अुच्च भावनाओंके साथ अेकरूप होनेमें है। जिनमें शौर्य, क्षमा, दया, अहिंसा, सत्य, प्रेम आदि भावनाओंका अत्यन्त विकास हुआ है, अुन्हें हम महात्मा, पूज्य, सन्त, अवतारी मानते हैं। अुन्होंने अपनी अुन्नति कर ली है। जिन्होंने अिन भावनाओंके साथ अत्यन्त पुरुषार्थ — कर्तृत्व दिखलाया है, अुन्होंने संसारको अूंचा अुठाया है।

अुपनिषद् कहते हैं कि आत्मतत्त्व जाननेके लिअे बुद्धिकी सूक्ष्मता चाहिये। परन्तु बुद्धिकी सूक्ष्मताका अर्थ पाण्डित्य नहीं है। मैं समझता हूं कि अुपनिषदोंमें बुद्धिकी जो सूक्ष्मता सूचित की गअी है वह भावनाओंके अतिशय विकाससे बुद्धिमें पैदा होनेवाली सूक्ष्मता है।

अुच्च आदर्श तो बहुतेरे लोग रखते हैं। परन्तु अुन आदर्शों तक विरले ही मनुष्य पहुंच सकते हैं। बुद्धि और मनके बीच बार-बार संघर्षका अनुभव होना सामान्य स्थिति है। अिन झगड़ोंका कारण भावनाओंके विकासकी कमी है। जो अेक भावनाके साथ तद्रूप होता है, अुसके लिअे किसी भी तरहका त्याग करना कठिन नहीं होता। अुसे अिंद्रियोंका संयम सीखना नहीं पड़ता, अुसे प्रयत्न-साध्य तप नहीं करना पड़ता। जो अेक भावनाके साथ तद्रूप हो सकता है, अुसे अुससे भी ज्यादा अूंची भावनाके साथ तद्रूप होनेमें देर नहीं लगती।

हमारे देशमें भावनाओंका विकास रुक गया है, या अुसने विपरीत स्वरूप ले लिया है, जिसके कारण किंचित् त्याग करना भी हमारे लिअे आज कठिन हो जाता है।

भावनाओंकी शुद्धि और अुनका विकास बालककी शिक्षामें अुसके शरीरके पोषणके साथ जुड़ा हुआ होना चाहिये।

भावनाओंकी शिक्षाकी प्राथमिक शाला कुटुम्ब है। वह शिक्षा देनेवाला पहला गुरु माता है, दूसरा गुरु पिता है। अुसका पहला पाठ प्रेम है; और अुसका पहला फल गुरुजनोंकी सेवा करनेकी वृत्तिका विकास है।

आज्ञाका पालन और सेवा करनेकी वृत्ति अेक चीज नहीं हैं। आज्ञाका पालन डरसे भी हो सकता है। लाड़ और प्रेम अेक नहीं हैं। लाड़में मूर्खता भी हो सकती है। जिस बालकको मातृभक्त और पितृभक्त होनेका सबक मिला है, वह मनुष्यमात्रका भक्त हो सकेगा। कुटुम्ब-सेवामें जन-समाजकी सेवाका बीज निहित है।

सेवावृत्तिका विकास मनुष्यत्वका पहला लक्षण है और शायद अन्त तक रहनेवाला भी हो। अिस वृत्तिके विकासमें और अुसके क्षेत्रके विस्तारमें जगतका कल्याण समा जाता है।

माता-पिताकी आज्ञाके पालनके लिअे जिस बालकने अपना शरीर अर्पण करना सीखा है, वह गुरुके पास जाने पर गुरुके लिअे भी वैसा ही करेगा, और बड़ा होने पर समाजके लिअे भी बलिदान दे सकेगा।

राममें पितृभक्ति न होती तो अुन्हें अवतारके रूपमें कोअी नहीं पूजता। वे पितृभक्त न होते, तो प्रजाभक्त भी नहीं हो सकते थे।

नन्द और यशोदा पढ़े-लिखे न थे। परन्तु वे कृष्णको शिक्षा दे सकते थे। अुन्होंने कृष्णको प्रेमका जो पाठ पढ़ाया था, अुससे ही कृष्णकी मुरलीमें माधुर्य भर गया था।

बालक परमेश्वरकी पूजा करना सीखे अुसके भी पहले वह माता-पिताको देवता मानना सीखे, यह ज्यादा महत्त्वका है।

भावनाओंके विकासमें दूसरा स्थान कर्तृत्वकी — पुरुषार्थ करनेकी — शक्तिका है। हम अेक भी काम पूरा नहीं कर सकते, अिसका कारण यह है कि हम कर्तृत्वहीन बन गये हैं, हममें कोअी काम करनेका अुत्साह ही नहीं है। अपनी अशक्तिको हमने बहुधा साधुता माना है। पुराणोंमें कहा गया है कि भारतवर्षके राजाओंको देवता अपनी सहायताके लिअे बुलाते थे। परन्तु आज तो हम यह चाहते हैं कि देवता आकर हमारा अुद्धार करें! हममें दया कितनी ही क्यों न हो, लेकिन पुरुषार्थ

न हो तो वह दया किस कामकी? जो भी हमारा अिष्ट हो अुसे सिद्ध करनेके लिअे हमें कर्तृत्व तो करना ही चाहिये।

कर्तृत्व कार्य करनेकी शारीरिक या बौद्धिक शक्ति ही नहीं है; वह तो शौर्यसे मिलती-जुलती अेक वृत्ति है। वीर पुरुष साहसी होता है, अुद्यमशील होता है, विघ्नोंसे घबड़ाता नहीं और अपने ध्येयको जल्दी नहीं छोड़ता। कर्तृत्व अेक वृत्ति है, फिर भी यह सच है कि शरीरके आरोग्य पर अुसका आधार है। अिसीलिअे शारीरिक पुष्टिके बाद तुरन्त ही भावनाओंके विकासको स्थान दिया गया है।

जो बालक पुरुषार्थी होगा और श्रवणकी तरह माता-पिताकी सेवा करना सीखा होगा, अुसके लिअे बुद्धिका विकास दूर नहीं है, सद्गुण दूर नहीं हैं। मोक्ष भी दूर नहीं है। मेरी बुद्धिको तो यही लगता है कि निःस्वार्थ सेवा और कर्तृत्व ही मुक्तिकी विद्या है।

नवजीवन (केळवणी अंक), १८–९–'२२

८

विनय बनाम दृढ़ता और स्वातंत्र्य-वृत्ति

अेक भावी स्नातक, जिनका मुझसे व्यक्तिगत रूपमें मीठा संबंध है और जो मेरे प्रति अितना आदर-भाव रखते हैं कि मेरा अपमान नहीं कर सकते, अुनके मनमें अैसी गलतफहमी पैदा हो गअी है कि विद्यापीठ कार्यालयकी ओरसे कुछ असावधानी या पक्षपात हुआ है, जिससे अुन्हें नुकसान पहुंचा है। अिसलिअे वे नीचेका प्रश्न पूछते हैं:

> "मेरे साथियोंको मुझसे पहले यह फार्म मिलनेका कोअी कारण हो सकता है? अुनके साथ ही अपना . . . नाम लिखवाकर मेरी . . . शरीक होनेकी अिच्छा नहीं है, यों मान लेनेका कोअी कारण है? हो तो कृपया लिखें।"

अिस प्रकारकी शैलीमें लिखे हुअे पत्र कभी-कभी मेरे पास आते रहते हैं। विद्यार्थियोंकी स्वातंत्र्य-वृत्तिका विकास होने लायक वातावरण

मुझे अिष्ट मालूम होता है। मैं यह भी समझ सकता हूं कि अिस वृत्तिके विकासमें विद्यार्थी कभी अपना तारतम्य खो बैठता है। अिसलिअे जब कभी अैसे पत्र आते हैं, मैं हंसकर अुन्हें दाखिल दफ्तर कर देता हूं। अिस पत्रको मैं प्रकाशित कर रहा हूं, अुसका आशय यह नहीं कि मैं अुन भाअीको सार्वजनिक रूपमें अुलाहना देना चाहता हूं; अुनके साथ मेरा विशेष परिचय होनेसे गलतफहमी होनेकी कम संभावना है, यों मानकर ही अुनके पत्रको मैं टीकाका निमित्त-कारण बना रहा हूं। अिस टीकाको पढ़कर वे भाअी यह न समझें कि मैं अुनसे किसी प्रकारकी क्षमा-याचनाकी अपेक्षा रखता हूं।

हमारे देशके बहुतेरे सत्ताधारियोंके मनमें यह खयाल दिखाअी देता है कि अपने मातहत लोगों या रिआयाके साथ व्यवहारमें विनय रखी ही नहीं जा सकती; वह निर्बलता मानी जायगी; अुससे अधिकारी अपने दृढ़ निश्चय और प्रतिष्ठाकी रक्षा न कर सकेगा, वह अपना फर्ज न बजा सकेगा। जो अधिकारी खुशामदके बल पर अूंचे चढ़ते हैं, अुनमें यह खयाल घर किये रहता है। अुनकी समझमें यह नहीं आता कि अुन्हें बाकायदा जो अधिकार मिला है, अुसकी ताकत ही नियमके अनुसार आवश्यक काम करवानेके लिअे काफी है। अुसके लिअे अुद्धतताके बलकी सहायता आवश्यक नहीं।

अिसी तरह दूसरी दृष्टिसे विद्यार्थियोंका भी यह खयाल हो गया है कि स्वातंत्र्य (!) के जमानेमें विनयी नहीं बनना चाहिये। अुनकी यह धारणा मालूम होती है कि विनय गुलामीके संस्कारोंसे पैदा हुआ अेक दुर्गुण है। अिसलिअे वे विनयका नाश करके गुलामीका नाश करनेकी आशा रखते हैं। अुन्हें यह नहीं समझमें आता कि विनयमें भी शक्ति भरी हुअी है, और स्वातंत्र्य-वृत्तिवाला मनुष्य केवल विनय-बलसे ही अन्यायी अधिकारीको हरा कर सकता है। गुलामीकी मनोदशाका नाश करनेके लिअे अविनयी होनेकी जरा भी आवश्यकता नहीं। आवश्यकता तो अिस बातकी है कि भयसे अुत्पन्न होनेवाले संकोचको और अुसके कारण विनय-पूर्वक किन्तु साफ-साफ सत्य बोलनेका साहस न होनेके दोषको मनसे दूर किया जाय।

मैं चाहता हूं कि अैसी शैली स्वातंत्र्य-वृत्तिके विकासको दिखाने-वाला चिह्न है, यह माननेकी विद्यार्थी भूल न करें। अिससे स्वातंत्र्य-वृत्तिका विकास नहीं मालूम होता, बल्कि अपने कुल (विद्यापीठ) के प्रति हमारे मनकी गहराअीमें छिपा हुआ अनादर प्रकट होता है। **जिन विद्यार्थियोंको अपने अध्यापकों या कुलके प्रति आदर नहीं है, वे यदि अुस संस्थामें अपना शिक्षण चालू रखते हैं या अुसकी पदवी ग्रहण करते हैं, तो वे अपने-आपको धोखा देते हैं।** वे अुस संस्थासे किसी भी तरहका सच्चा लाभ नहीं अुठा सकते, न वे 'स्नातक-प्रतिज्ञा' का पालन कर सकते हैं। अितना ही नहीं, **आगे जाकर वे अपने जीवनके कड़वे अनुभवसे जानेंगे कि स्वातंत्र्य-वृत्तिकी हिम्मत अुनमें पैदा ही नहीं हुअी है। बल्कि स्वातंत्र्य-वृत्ति मानकर जिस अुद्धतताकी भावनाका अुन्होंने पोषण किया है, अुससे अुन्होंने अपने जीवन-साफल्य पर ही कुल्हाड़ी चलाअी है।**

आशा है कि विद्यार्थी अिस सम्बन्धमें विचार करेंगे और अुद्धतताकी बढ़ती हुअी वृत्तिको अंकुशमें रखेंगे।

नवजीवन (केळवणी अंक), २९–११–'२५

९

तारतम्य-बुद्धि

कुछ हद तक यह दुःखद अनुभव सभीको होता है कि किसी भी प्रकारके व्यक्तिगत स्वार्थसे रहित मनुष्य कोअी सर्वमान्य सत्कार्य शुरू करते हैं, तो अुनके बीच भी अुस कामके सम्बन्धमें तीव्र मतभेद पैदा हो जाते हैं। ये मतभेद बहुत बार सिद्धान्तकी भाषामें पेश किये जाते हैं। अिन सिद्धान्तोंको अस्वीकार करनेके लिअे तो विरोधी भी तैयार नहीं होता, लेकिन साथ ही अुन सिद्धान्तोंसे निकलनेवाले तात्पर्यको भी वह स्वीकार नहीं कर पाता। वह अितना तो समझता है कि कहीं भूल हो रही है, परन्तु अुस भूलको बता न पानेसे अुसका वह विरोध दुराग्रह माना जाता है। अिससे बहुत बार कार्यकर्ताओंके बीच व्यर्थका वैमनस्य पैदा हो जाता है, फिरसे मिलकर काम करनेका अुत्साह भंग हो जाता है और कभी-

कभी प्रवृत्ति भी टूट जाती है। अिन्हीं कारणोंसे कुछ लोग सार्वजनिक कार्योंसे निवृत्त होते भी देखे जाते हैं।

अिस स्थितिसे प्रकट होता है कि हमारे जीवनमें, जीवन-सिद्धान्तोंमें, हमारी बुद्धिमें या शिक्षामें कुछ दोष है।

अिस दोषके अेक अंग पर आज मैं विचार करना चाहता हूं।

यह दोष तारतम्यका है।* विचारमें तारतम्यके सिद्धान्तका विस्मरण और आचारमें तारतम्यकी मर्यादा निश्चित करनेके बारेमें दुविधा, ये दोनों बातें अकसर प्रामाणिक मनुष्योंके मतभेदोंका कारण बनती हैं।

अिसे स्पष्ट करता हूं।

तारतम्यका सिद्धान्त हम तब भूलते हैं जब आचरणका मापदण्ड ठहरानेमें हमें किसी अेक ही सूत्रसे दिखाया जानेवाला विचार या सिद्धान्त परिपूर्ण मालूम होता है और अिस विचार या सिद्धान्तसे अनुमानोंकी जो परम्परा निकलती है अुससे चिपटे रहनेमें ही योग्य आचरण दिखाअी देता है। हकीकत यह है कि योग्य आचरण किसी अेक विचार या सिद्धान्तको ही भलीभांति ग्रहण करनेसे नहीं पैदा होता। वह अनेक विचारों या सिद्धान्तोंमें निहित तथ्यांशोंको स्वीकार करके प्राप्त वस्तु-स्थितिमें अुन सब सिद्धान्तोंका सुसंगत समुच्चय करनेसे पैदा होता है। भाषामें ये सिद्धान्त कअी बार अेक-दूसरेके विरोधी दिखाअी देते हैं, फिर भी अिन परस्पर-विरोधी सिद्धान्तोंमें भी तथ्यांश रहता है, और अिस तथ्यांशको निष्पक्ष रूपमें स्वीकार न करनेसे योग्य आचरण निश्चित करनेमें भूल होती है।

अुदाहरणके लिअे, बाढ़-संकट-निवारणके सम्बन्धमें बार-बार 'स्वाश्रय' के जिस सिद्धान्तकी बात कही जाती है अुसीको हम लें।

मनुष्यको स्वाश्रयी होना चाहिये। विपत्तिमें भी स्वयं अपनी कठिनाअी दूर करनेकी अुसमें शक्ति और हिम्मत आनी चाहिये। अिसका नाम है स्वाश्रय। बेशक, यह गुण महान है।

---

* सादी भाषामें अिस दोषको केवल पोथी-पण्डितका दोष भी कहते हैं। लेकिन जो सिर्फ पोथी-पण्डित ही नहीं हैं, बल्कि पढ़े और गुने दोनों हैं, अुनमें भी कभी-कभी यह दोष पाया जाता है।

किन्तु अिससे यह तात्पर्य निकाला जाता है कि दूसरे व्यक्ति पर जब विपत्ति आये तो किसीको अुसकी मददके लिअे नहीं दौड़ना चाहिये; क्योंकि अैसा करके हम अुसे स्वाश्रयी नहीं बनने देते।

यह तात्पर्य अुलटा है। अिसमें तारतम्यका अभाव है।

सत्य यह है कि स्वाश्रयके सिद्धान्तकी व्याप्ति अमर्यादित नहीं है। केवल स्वाश्रय पर ही जीवन नहीं टिक सकता। और न स्वाश्रयसे अभ्युदय साधा जा सकता है। कभी-कभी तो स्वाश्रयी रहने या रखनेका आग्रह जीवनको अशक्य बना सकता है। छोटे बालक, रोगी और वृद्धको पराश्रयकी अपेक्षा रखनी ही पड़ती है और अुन्हें आश्रय देनेवाला दोषी नहीं माना जाता। अिसी प्रकार कुछ अैसे प्रसंग होते हैं जब अेक मनुष्य यदि दूसरेको सहारा देता है तो वह टिकता है, अुस सहारेके आधार पर आगे बढ़ता है और अुसका टिकना और बढ़ना समाजके लिअे हितकारक होता है।

व्यापारमें तो अैसे मौके कअी बार आते हैं। किसी व्यापारीका भारी नुकसान हो जाता है, तब यदि दूसरे व्यापारी अुसे कुछ समय तक टिकाये रखनेके लिअे कुछ आश्रय दे देते हैं, तो वह फिरसे व्यापारमें जम जाता है। न तो अुसके लेनदारोंको नुकसान होता है और न बाजारमें अव्यवस्था पैदा होती है।

पिता पुत्रको या मित्र मित्रको पूंजी या नौकरी दिलवाकर अुसे जीवनमें 'स्थिर बनाने' का जो प्रयत्न करता है, वह अिसी न्यायसे करता है। यह मदद मिलनेसे वह पराश्रित नहीं बन जाता, बल्कि थोड़ेसे आश्रयसे अधिक स्थिर हो जाता है।

सच बात तो यह है कि मनुष्यको सदा ही पराश्रयकी जरूरत नहीं होती, और न होनी चाहिये। जिस समाजमें अेक वर्ग पराश्रित होकर ही जीवन बिताता हो या बिता सकनेकी स्थितिमें हो, अुसकी रचनामें कोअी तो भी भारी दोष होना चाहिये। परन्तु अिसका अर्थ यह नहीं होता कि मनुष्यके लिअे किसी भी समय पराश्रय लेनेका प्रसंग नहीं आ सकता। प्रत्येक सफल व्यक्ति भी यदि अपने जीवनकी जांच करे, तो अुसे मालूम होगा कि अुसके जीवनमें अमुक समय अुसे समाज या

मित्रोंकी ओरसे जो मदद मिली थी, अुसके कारण अुसका जीवन बहुत-कुछ सफल बना है।

आश्रय दिया ही न जाय, यह विचार गलत है; अुसी तरह अमुक वर्ग या व्यक्तिको निरन्तर आश्रय देते रहनेमें ही धर्म है, यह विचार भी गलत है। अुचित प्रसंग पर अुचित प्रमाणमें अेक मनुष्यका दूसरे मनुष्यको आश्रय देना कर्तव्य है। यह आश्रय देनेका तरीका यदि अैसा हो कि अुससे आश्रय लेनेवालेको कुछ पुरुषार्थ ही न करना पड़े, तो अुस आश्रयमें गंभीर दोष है। लड़के आरामसे खा-पी सकें, अिसलिअे कोअी पिता धन-संग्रह करे तो वह यही दोष करता है। परन्तु संकटके अवसर पर अेक मनुष्य दूसरेको अैसा आश्रय दे, जिससे अुसका पुरुषार्थ करनेका अुत्साह बढ़े और अुसका जीवन आशाहीन न बने, तो अैसा आश्रय लेनेवाले और देनेवाले दोनोंको लाभ पहुंचाता है; दोनोंको मनुष्यताकी ओर बढ़ाता है।

आश्रय देनेका योग्य तरीका खोज निकालनेकी कला जन्मसिद्ध होती है, वह शायद सिखाअी नहीं जा सकती। किन्तु जैसे यह विचार कि आश्रित वर्ग कभी स्वतंत्र ही नहीं हो सकता, वह आश्रित ही रहेगा, अेक दिशाकी भूल है, अुसी प्रकार कभी किसीको आश्रय दिया ही न जाय यह विचार दूसरी दिशाकी भूल है। आश्रय और स्वाश्रय दोनोंका जीवनमें स्थान है, और अिन दोनोंके बीच तारतम्य बनाये रखनेसे जीवनका स्थायित्व और अभ्युदय सिद्ध होता है।

अिसी तरह स्वमतके अनुसार आचरण निश्चित किया जाय या बहुमतके अनुसार, अिसके निर्णयमें भी तारतम्य रखना जरूरी है। यदि कोअी कहे कि मैं तो सदा अपने मतके अनुसार ही चलूंगा, तो संभव है वह भी गलत आचरण कर सकता है; और यदि कोअी कहे कि मैं हमेशा बहुमतके अनुसार ही चलूंगा, तो अुसका काम भी दोषपूर्ण हो सकता है।

कहां स्वमतका आग्रह रखा जाय और कहां बहुमतके सामने झुका जाय, यह हर प्रसंग पर न्यायबुद्धिके किसी तीसरे ही सिद्धान्तसे निश्चित करनेकी आवश्यकता होती है। अिस तीसरे सिद्धान्तकी अवगणना करनेमें तारतम्यका भंग होता है।

अिस प्रकारकी तारतम्य-बुद्धि सामान्य वाचन या शिक्षणसे नहीं आती। वह अनेक बातों पर निर्भर करती है। लेकिन यह समझना जरूरी है कि तारतम्य-बुद्धि अेक महत्त्वकी वस्तु है, अुसमें विरोधी दिखाअी देनेवाले सिद्धान्तोंमें निहित तथ्यांशोंका निष्पक्ष स्वीकार अपेक्षित है, और यह कि अिस बातको भूल जानेसे अिस बुद्धिके काममें रुकावट आ जाती है।

अिसका योग्य रीतिसे अुपयोग करना आना जीवन और जगतके अनुभव पर, अिन अनुभवोंका सूक्ष्म विचार करनेकी आदत पर, परिस्थितियों तथा संस्कारोंके चित्त पर होनेवाले परिणामके सूक्ष्म अवलोकन पर, जीवन-संबंधी सच्ची दृष्टि पर, व्यक्तिकी न्यायबुद्धि पर, परस्पर-विरोधी दिखाअी देनेवाले भावोंके सामंजस्य (मेल) पर और पुरुषार्थ पर निर्भर है।

अैसे अनेक अंशोंके गिनानेसे डरनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि तारतम्य-बुद्धिका कुछ-न-कुछ अुपयोग तो हरअेक मनुष्य ठीक तरहसे कर ही सकता है। और जब कभी वह अिस बुद्धिका अुपयोग करता है, तब अूपर बतलाये हुअे सभी अंशोंका, अज्ञात रूपमें ही क्यों न हो, वह विचार करता है। परंतु जब किसी अेक सूत्रका जादू अुसे मुग्ध कर लेता है, तब भूल होनेकी संभावना रहती है।

अिस तारतम्य-बुद्धिके अेक दूसरी वृत्तिसे मिल जानेकी संभावना रहती है। वह वृत्ति है सत्यके साथ समझौता (compromise) करनेकी। मनुष्य किसी प्रसंग पर तारतम्य-बुद्धिका अुपयोग करता है या सत्यसे समझौता करता है, यह अधिकतर अुसकी प्रामाणिकता और अितर चरित्र-शुद्धि तथा जीवन-संबंधी दृष्टि पर अवलम्बित होता है। हो सकता है कि जिस निर्णय पर अेक मनुष्य तारतम्य-बुद्धिसे पहुंचे, अुसी पर दूसरा स्वार्थबुद्धिसे पहुंचे। अमुक मौके पर कुत्तोंको मारनेमें कोअी हर्ज नहीं — गांधीजीके अैसा निर्णय देनेमें और कुत्तोंसे तकलीफ अुठाये हुअे किसी दूसरे आदमीके अुस निर्णयका स्वागत करनेमें दोनोंकी तारतम्य-बुद्धिमें बहुत फर्क हो सकता है, जिसका निर्णय अुनके जीवनके दूसरे भाग परसे किया जा सकता है।

अिस प्रकार तारतम्य-बुद्धिका निर्णय अकसर लोकवृत्तिके अनुकूल हो सकता है। लेकिन भेद अितना ही है कि अुसका अनुकूल होना हमेशा ही संभव नहीं।

तारतम्य-बुद्धि त्रिकालाबाधित निर्णय नहीं करती। वह तो प्राप्त परिस्थितिमें न्याय्य निर्णय कौनसा है अितना ही तय करती है। अुस परिस्थितिको निर्माण करनेवाले संयोगोंमें फर्क पड़े, तो भी अुसी निर्णयका कायम रहना संभव नहीं है। लेकिन अुस समय तारतम्य-बुद्धि अिस बातकी सावधानी रखनेका प्रयत्न करेगी कि अुस निर्णयमें कोअी दोष न निकाला जा सके।

'प्रस्थान', कार्तिक १९८४

१०

बुद्धि किस प्रकार विकसित हो?

१

बुद्धि और तर्क

मुझसे पूछा गया है कि बालककी बुद्धि किस प्रकार खिल सकती है। अिस संबंधमें 'केळवणीना पाया'* (तालीमकी बुनियादें) पुस्तकमें मैंने जो विचार प्रस्तुत किये हैं, अुन्हें पढ़ लेना चाहिये। फिर भी अुनकी पूर्तिमें मैं यहां कुछ बातें पेश करूंगा।

सबसे पहले बुद्धिका अर्थ और बुद्धि तथा तर्कके बीचका भेद स्पष्ट समझ लेनेकी जरूरत है। हमारे देशमें यह भूल बार बार होती है और तर्ककुशल मनुष्योंकी गिनती बुद्धिमानोंमें होती है। परंतु बुद्धि और तर्क अेक नहीं हैं। तर्ककुशल मनुष्य मन्द बुद्धिका हो सकता है और बुद्धिमान मनुष्यमें तर्क दौड़ानेकी शक्ति कम हो सकती है।

* यह पुस्तक हिन्दीमें नवजीवन कार्यालय द्वारा प्रकाशित हो चुकी है। कीमत २–०–०; डाकखर्च १–०–०

तर्कका अर्थ है व्यवस्थित रीतिसे अेक विचारसे दूसरे विचार पर जाने और सामनेवाले मनुष्यके अिस प्रकारके प्रयत्नमें जो अव्यवस्थितता हो अुसे बतलानेकी शक्ति। अुस 'फकीर और खोये हुअे अूंट' की कहानीमें फकीरकी तर्ककुशलता तथा चोरीका आरोप लगानेवाले व्यापारीकी विचार करनेकी अव्यवस्था दिखाअी देती है। अुसमें फकीरका किया हुआ तर्क सच निकला, यह कुछ हद तक तो संयोग ही माना जायगा। अुसने व्यापारीकी विचार करनेकी पद्धतिमें दोष अवश्य दिखा दिया, लेकिन यह असंभव नहीं कि वह फकीर चोर ही हो।

हमारे पंडित, वकील और पुलिस-विभागके लोग अधिकतर व्यवस्थित रीतिसे तर्क करनेकी शक्तिको विकसित करते हैं। बुद्धिके लिअे प्रसिद्ध नागर,* महाराष्ट्रीय ब्राह्मण, और बंगाली विद्वान ज्यादातर तर्ककुशल ही होते हैं। अिसके विपरीत कहा जा सकता है कि मोटर, विमान आदि यंत्रोंके चलानेवालोंको, सेनापति, नौकापति आदिको तथा खिलाड़ियोंको हर क्षण अपनी बुद्धिका अुपयोग करना पड़ता है। अैसा नहीं कहा जा सकता कि अुनकी तर्कशक्ति बहुत तीव्र होती है। लेकिन तत्काल निश्चय करनेकी शक्तिके बिना अुनका काम बिलकुल नहीं चल सकता।

तर्कशक्ति निकम्मी वस्तु नहीं है। लेकिन बुद्धि अुससे भिन्न शक्ति है। तर्क और बुद्धिकी व्याख्या यों की जा सकती है — तर्क विचारका विकास करनेकी शक्तिको कहते हैं और बुद्धि आचारका निर्णय करनेकी शक्तिको कहते हैं। अमुक परिस्थितिमें किस प्रकार बरताव किया जाय, यह निःसंशय रूपमें जो निश्चित कर सके वह बुद्धिमान कहलायेगा। जो अपना कर्तव्य निश्चित न कर सके और संशय या विचारमें पड़ जाय, परेशानीमें पड़ जाय, वह विद्वान हो सकता है, होशियार हो सकता है, परंतु बुद्धिमान नहीं माना जा सकता।+

* नागर जातिके ब्राह्मण।

+ पंडित जवाहरलाल, श्री राजगोपालाचार्य, श्री भूलाभाअी देसाअी तर्कशक्तिके अुत्तम नमूने कहे जा सकते हैं। पूज्य गांधीजी तुरन्त ही निर्णय पर पहुंच जाते हैं, और वह निर्णय सबको मान्य भी हो सकता है; लेकिन अुसके समर्थनमें दी जानेवाली दलीलोंसे वे सबको सन्तुष्ट नहीं कर सकते।

तर्ककुशल मनुष्य दूसरेको सयानी सलाह दे सकता है, और दूसरेके सयानपनमें गलतियां भी निकाल सकता है। हो सकता है कि बुद्धिमान मनुष्य स्वयं अमुक रीतिसे बरताव करनेका निर्णय क्यों करता है यह समझा न सके; लेकिन अुसे अपने निर्णयके बारेमें शंका नहीं रहती। अुसके निर्णयमें भूल नहीं हो सकती, अैसी बात नहीं। परन्तु अुस क्षण अुसे अपने निर्णयके विषयमें शंका नहीं होती।

बुद्धि सदा निश्चित और अेकरूप ही होती है। वह अेकसमान (स्थितप्रज्ञ समाधिस्थ) या बहुशाखावाली हो सकती है, लेकिन अेक समयमें वह अेक ही अुत्तर देती है। अिसे बीजगणितकी पद्धतिसे समझावें तो क्ष^{२} − ९क्ष + २० = ० अिस समीकरणमें क्ष की कीमत विकल्पसे ४ या ५ बतानी पड़ेगी। तर्कका यहां अन्त हो जाता है। लेकिन दृष्टिके सामनेके संयोगोंको देखते हुअे अुसकी कीमत ४ ही हो सकती है, ५ कभी नहीं हो सकती, यह बुद्धि ठहराती है; अिन संयोगोंमें जो क्ष की कीमत निश्चित रूपसे ४ ठहरा सके वह बुद्धिमान कहलायेगा, फिर भले अुसे यह न मालूम हो कि दूसरे किन्हीं संयोगोंमें अुसकी कीमत ५ भी हो सकती है।

आम तौर पर स्वप्नमें मनुष्यकी बुद्धि ही काम करती है, तर्कशक्ति नहीं। अिसलिअे कुत्तेके सिर पर सींग देखकर या अपनेको पंख फूटे हुअे देखकर अुसे यह शक नहीं होता कि 'यह कैसे हो सकता है'। पहले क्षणमें जिस चीजको वह सींगोंवाला कुत्ता ठहराता है, दूसरे क्षण अुसे ताबूतका शेर समझता है और तीसरे क्षण अपनी भैंस मानता है। परंतु अस्थिर होने पर भी वह हर क्षण निःसंशय रहता है।

निःसंशयता बुद्धिका स्वभाव ही है। स्थिरता अुसकी विकसित स्थिति है। अेकसापन अुसकी तीक्ष्णता है। सत्यदर्शिता अुसका आरोग्य है। तर्कशक्ति और पाण्डित्य अुसके वैभव हैं।

अैसी बुद्धिका विकास किस प्रकार हो, अिस पर हमें विचार करना है।

२

बुद्धि और धृति

जिस प्रकार बुद्धि और तर्कके बीचका भेद समझना जरूरी है, अुसी प्रकार बुद्धि और धृतिके बीचका भेद जानना भी जरूरी है।

भगवद्गीतामें धृतिका अुल्लेख है, और अुसके सात्त्विक, राजस और तामस भेद भी बतलाये गये हैं। फिर भी, साधारणतः हमारे देशमें धृतिका कहीं भी विचार किया गया हो अैसा मेरे जाननेमें नहीं आया। यह प्राणीके भीतर अेक महत्त्वकी शक्ति है और आजके यंत्रयुगमें अिसका महत्त्व पहलेसे कहीं ज्यादा बढ़ गया है। अभी अभी मैंने किसी लेखकका यह वाक्य पढ़ा है कि अिस युगके युद्धका अर्थ है आमने-सामनेकी विरोधी धृतियोंका तीव्र मुकाबला (war of nerves)।

हमारे देशकी प्राचीन वर्ण-व्यवस्थामें क्षत्रियों और शूद्रोंकी धृति अधिक विकसित होती थी। ब्राह्मणकी धृति अुससे कम और वैश्यकी सबसे कमजोर रहती थी। अिसका अुदाहरण परशुराम और कर्णकी कथामें मिलता है। कर्णने अपने-आपको ब्राह्मण कहकर परशुरामसे अस्त्रविद्या सीखी। किन्तु अेक दिन परशुराम अुसकी गोदमें सिर रखकर सो रहे थे, तब अेक बर्रने कर्णको काटा। परशुरामकी नींद खराब न हो अिसलिअे कर्णने अुसकी पीड़ा जरा भी हिले-डुले बिना सहन कर ली। आखिर जब गरम खूनकी धार बहकर परशुरामके गाल तक पहुंची तो वे जाग अुठे। अिस परसे अुन्हें लगा कि अपने ज्ञानतंतुओं पर अितना काबू रखनेकी शक्ति क्षत्रियके सिवा दूसरे किसीमें नहीं हो सकती, और अिस तरह अुन्होंने कर्णका वर्ण पहचान लिया।

अिससे हम धृतिका अर्थ समझ सकते हैं। धृतिका अर्थ है स्नायुओं तथा चित्तको हिलानेवाले ज्ञानतंतुओं पर संपूर्ण अधिकार। अिसीको अिच्छा-शक्ति भी कहा जा सकता है। कैसी भी स्थितिमें हाथमें पकड़ी हुअी चीज न छोड़ना, न कांपना, पैरोंका न हिलना, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंका वशके बाहर न जाना, मनका न घबराना तथा बुद्धि (आचरणका निर्णय करनेवाली शक्ति)का मन्द न पड़ना — ये सब धृतिके लक्षण हैं।

बुद्धिके विकासमें तर्कशक्तिकी अपेक्षा धृति ज्यादा महत्त्वकी चीज है। सच्ची बात समझमें आने पर भी निर्णय नहीं किया जा सके, निर्णयके बाद भी अुस पर आचरण नहीं किया जा सके, आरंभ करनेके बाद भी अन्त तक न टिका जा सके — ये सब धृतिके दोषोंके लक्षण हैं।

३

बुद्धि और साहस

गीतामें कहा गया है : 'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य'।

अिसका अर्थ यह हुआ कि योगके बिना बुद्धि पैदा नहीं हो सकती।

यहां योगका अर्थ समत्व किया गया है। गीताके अनुसार समत्वका अर्थ है सुख-दुःख, लाभ-हानि, यश-अपयशमें समता। पढ़नेमें ये शब्द बहुत ही बड़ी और अूंची आध्यात्मिक स्थिति बतलानेवाले मालूम होते हैं। विचार करने पर मालूम होगा कि अुन्हें संक्षेपमें साहस भी कहा जा सकता है। जब यह निर्णय करना होता है कि छोटेसे छोटा काम किया जाय या नहीं, तब कुछ-न-कुछ खतरा तो अुठाना ही पड़ता है। खतरेका अर्थ यही है कि किसी भी कारणसे अुस काममें विघ्न पैदा होनेकी संभावना है, और यदि विघ्न आया तो कुछ-न-कुछ दुःख, अपयश या हानि भोगनी ही पड़ेगी। अिसके अलावा, यदि वह काम निर्विघ्न पूरा हो तो भी अपेक्षित सुख, यश या लाभके बदले अुलटे परिणाम भी आ सकते हैं। केवल तीन फुटकी अूंचाअीसे ही कूदना हो और मनुष्य यह निर्णय करना चाहता हो कि कूदा जाय या न कूदा जाय, तो जब तक वह अिस संशयमें अुलझा रहेगा कि 'कहीं चोट लग गअी तो' तब तक वह खड़ा ही रहेगा। अिस संशयको हटानेमें तर्क नहीं बल्कि साहसकी वृत्ति मदद करती है। 'चोट क्यों लगेगी?' अथवा 'लगे तो भले लगे' जब मनुष्यमें अैसी वृत्ति अुठे तभी वह निर्णय कर सकता है। 'चोट लगे तो भले लगे' की वृत्तिमें सुख-दुःखके प्रति अुस हद तक समताकी वृत्ति निर्माण होती है। अिसी प्रकार फीस भरकर परीक्षामें बैठना या नहीं यह तय करना हो और यदि यह भय बना रहे कि 'नापास हुआ तो पैसे बेकार जायंगे', तो फार्म भरनेकी हिम्मत नहीं होगी। 'परिश्रम करता हूं'

पास होनेकी आशा है, फिर जो होना होगा सो होगा', यह वृत्ति होगी तभी कोअी विद्यार्थी परीक्षामें बैठ सकेगा। अिसलिअे यश-अपयशके बारेमें कमसे कम अुतने समयके लिअे तो समता होनी ही चाहिये। अिस प्रकारके निर्णयके लिअे आवश्यक क्षणिक समताको साहस और आरंभसे लेकर परिणाम आनेके बाद भी बनी रहनेवाली समताको योग कहा जा सकता है।

अैसी साहसरूपी समताके बिना बुद्धि पैदा ही नहीं हो सकती, अर्थात् किसी निर्णय पर पहुंचा नहीं जा सकता।

४

प्रसन्नता

'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य' वाले अूपरके श्लोकमें गीतामें कहा गया है कि 'प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते'। मतलब यह है कि बुद्धि अुत्पन्न करनेके लिअे जैसे योग, समता और साहसकी आवश्यकता है, वैसे ही अुसके विकासके लिअे मनकी प्रसन्नता भी आवश्यक है।

जो मनुष्य आचरणके बारेमें कोअी निर्णय कर लेता है, अुसके विषयमें यह तो कहा ही जायगा कि अुसने बुद्धिका अुपयोग किया है। लेकिन वह निर्णय सही भी हो सकता है और गलत भी; पक्का यानी स्थिर भी हो सकता है और कच्चा यानी कुछ समयमें बदला जानेवाला भी हो सकता है। यह तो परिणामसे मालूम होगा।

परंतु जिसके निर्णय कच्चे और अस्थिर ही हुआ करते हों, अुसकी बुद्धिको हम विकसित बुद्धि नहीं कह सकते। कभी कभी तो अैसी बुद्धिका होना-न-होना अेकसा ही मालूम होगा। पक्के, स्थिर निर्णय करनेवालेकी बुद्धि ही प्रफुल्ल — विकसित कही जा सकेगी।

तो गीताके श्लोकका अर्थ हुआ कि अैसी स्थिर बुद्धिके लिअे मनकी प्रसन्नता आवश्यक है।

यहां प्रसन्नताका अर्थ समझ लेना चाहिये। प्रसन्नताका अर्थ हर्ष या आनन्दका अुभार न समझा जाय। यह कहनेकी तो आवश्यकता ही नहीं कि अुसमें शोक, विषाद, अुद्वेग आदि नहीं हो सकते। न यह

समझानेकी ही आवश्यकता है कि मनमें जब शोक या अुद्वेग भरा हो तब बुद्धि बराबर काम नहीं कर सकती। लेकिन हर्ष या आनन्दके आवेशमें भी बुद्धि अच्छी तरह काम नहीं कर सकती। किसी भी तरहकी भावना, फिर वह अच्छी हो या बुरी, मनुष्यमें विकार पैदा कर देती है, वह अुसे आचार या विचारके विषयके प्रति तटस्थ नहीं रहने दे सकती। अिसलिअे हर्ष या शोकका आवेग बुद्धिकी गतिके लिअे विघ्नरूप है। अिसलिअे मन जब हर्ष-शोकके आवेगसे मुक्त हो तभी बुद्धि भलीभांति काम कर सकती है। चित्तकी अिस दशाको ही प्रसन्नता कहते हैं। अुसमें प्रकृति स्वाभाविक, आवेगरहित, शान्त और प्रसन्न होती है। मनुष्य व्यायाम करके ठण्डे पानीसे नहाकर बैठा हो, अथवा काम करनेके बाद किसी टीले पर जाकर हवासे थकावट दूर करके आरामसे बैठा हो, अुस समयके अुसके चित्तके आनन्दके साथ प्रसन्नताकी तुलना की जा सकती है। बुद्धिके विकासके लिअे अैसी प्रसन्नता निरन्तर रहनी चाहिये।

अिस परसे अनायास ही हमें अेक प्रश्नका निर्णय मिल जाता है। मार-पीट, धमकी आदि विषाद पैदा करनेवाले तरीकोंका जिन पर प्रयोग होता है, अुनकी बुद्धि कभी स्थिर नहीं हो सकती, अर्थात् खिल नहीं सकती।

यह बात समझनेमें भले कठिन मालूम हो, परंतु अिसीके साथ अिसका दूसरा किनारा भी बुद्धिके विकासमें सहायक नहीं होता; अर्थात्, आनन्द आदिका अुन्माद भी बुद्धिका पोषक नहीं है। अुससे बुद्धि गहरी नहीं हो सकती, वह अूपर-अूपरसे ही निर्णय करनेवाली बनती है। विशेषतः जब अिन्द्रियों या भावनाओंको प्रलोभनमें डालनेवाले साधनोंसे आनन्द पैदा किया जाता है, तब बुद्धिमें चातुर्य आता तो मालूम होता है, परंतु अुसमें गहरापन नहीं होता।

अिस तरह बुद्धि और प्रसन्नताका परस्पर संबंध है।

५

अुपसंहार

अिस प्रकार हमने तर्क और बुद्धिके बीचका भेद देख लिया। यह भेद समझना बहुत जरूरी है। क्योंकि साधारणतया जो बुद्धिमान पण्डित

माने जाते हैं, वे तर्ककुशल ही होते हैं। अिसके विपरीत, अविद्वान, तर्क-ज्ञान-रहित मनुष्यके बहुत बुद्धिमान होने पर भी अुसे अज्ञान माननेकी भूल होती है। बुद्धिका क्षेत्र विचारका नहीं, बल्कि आचारका निर्णय करनेका है, और अुसके साधन दलीलें नहीं, बल्कि धृति, साहस, प्रसन्नता आदि हैं — यह बात हम याद रखें तो दोनोंके बीच कभी गड़बड़ी नहीं हो सकती।

बुद्धिका अुपयोग करनेके लिअे धृति — किसी वस्तुसे चिपटे रहनेकी शक्ति — चाहिये, साहस बनाये रखने जितनी समता चाहिये, और चित्तकी प्रसन्नता चाहिये।

अिन सबके लिअे पद्धतिपूर्वक शिक्षा मिलनी चाहिये, और अिनका अभ्यास या आदत होनी चाहिये।

चूंकि आचरणका निर्णय करनेका काम बुद्धिके क्षेत्रमें आता है, अिसलिअे अुसकी आदत डालनेके लिअे मनुष्यके पास कुछ-न-कुछ काम खुद करनेके लिअे सदा ही रहना चाहिये। काम छोटा हो या बड़ा अिसका कोअी महत्त्व नहीं है। लेकिन वह बैठे-बैठे दलीलें करने या अंदाज लगानेका ही नहीं होना चाहिये। वह काम अैसा होना चाहिये जिसमें मनुष्यको 'अिस प्रकार किया जाय या अुस प्रकार किया जाय' का निर्णय बार-बार करते रहनेकी जरूरत पड़ती हो। वह यंत्रवत् करते रहनेका काम नहीं होना चाहिये।

अिसके अलावा, कुछ काम अैसे भी होने चाहिये, जिनमें दृढ़ता-पूर्वक लगे रहनेके लिअे अपने मनको मजबूत रखनेकी आवश्यकता हो। साथ ही यदि अैसी परिस्थिति भी हो जिसमें दृढ़ रहना अनिवार्य हो जाय तो अधिक लाभ होगा।

'शिक्षण अने साहित्य', जनवरी-अप्रैल १९४२

शिक्षामें विवेक

दूसरा भाग

प्रवृत्ति-विवेक

१

स्कूलोंके वार्षिक सम्मेलन

कुछ वर्षोंसे मुझे शालाओंके वार्षिक सम्मेलनोंमें जाना पड़ता है। पाठकोंमें से भी कअी लोगोंको अैसा अवसर प्राप्त होता होगा। सम्मेलनोंमें संगीत और नाटचकलाका प्रदर्शन अेक साधारण बात हो गअी है। जो बालक अच्छी तरह काम करके पारितोषिक प्राप्त करते हैं, अुनके माता-पिताको अुनकी कुशलतासे आनन्द होता होगा। जो काम करना हो वह अुत्तम ढंगसे करना आ जाय, तो अुससे भी बालकका विकास होता है; अिस दृष्टिसे विद्यार्थीकी प्रगतिको देखकर यदि पालकोंको आनन्द हो तो वह स्वाभाविक है।

परंतु दूसरी दृष्टिसे ये सम्मेलन मुझे अिस बातके चिह्न मालूम होते हैं कि हमारी स्थिति कितनी दयाजनक है। गुलामोंके व्यापारके जमानेमें गुलामोंका बाजार लगता था। वहां खरीदार बिकनेके लिअे आये हुअे गुलाम लड़कोंको दौड़ाते, कुदाते, नचाते, अुनके दांत गिनते, हाथ-पैरोंकी जांच करते और अुनकी विशेष योग्यताओंकी परीक्षा लेते थे। बेचनेवाले भी यह दिखानेके लिअे कि वे गुलामोंको कितनी अच्छी तालीम दे सकते हैं, लड़कोंको कुछ खास चालाकियां सिखाते थे। विक्रेताकी गुलामको तालीम देनेकी कुशलताकी परीक्षा और खुद गुलामकी भी परीक्षा बाजारमें होती थी, अिसलिअे दोनोंको बाजारके लिअे विशेष सावधानी और अुत्साह रखना पड़ता था। गुलाम होते हुअे भी वह हम-जैसा ही मनुष्य होता था, अिसलिअे अुसे भी अपनी होशियारी पर गर्व होता था। अिस कारणसे वह भी अपनी होशियारी बतलानेके लिअे अुत्सुक रहता था।

कुछ सम्मेलनोंमें भाग लेनेके बाद मुझे अैसे लगने लगा है कि ये सम्मेलन भी अुन गुलामोंके बाजारों जैसे ही प्रदर्शन हैं। ये अुन बाजारों जितने मलिन, नीच या जान-बूझकर स्वार्थपूर्ण तो नहीं होते, फिर भी अिन सम्मेलनोंमें शिक्षकोंको अपनी सिखानेकी योग्यता दिखानका

और बालकोंको अपनी होशियारी बतलानेका लालच रहता ही है। अिस लालचके कारण अैसे सम्मेलनोंके समय कुछ विद्यार्थियों पर अत्यधिक बोझ डाला जाता है, और अुत्साहके कारण विद्यार्थी भी अुसे अुठाते हैं। कुछ समय पहले मैं अेक सम्मेलनमें गया था। अुसमें अेक लड़केका कण्ठ बहुत मीठा होनेसे सारे सम्मेलनमें कोअी पच्चीस-तीस गीत गानेका काम अुसे सौंपा गया था। अुस विद्यार्थी पर पड़नेवाले बोझसे मुझे बड़ा दुःख हुआ ; और मैंने देखा कि समारंभके अन्तमें अुस लड़केका कण्ठ बिलकुल बैठ गया था। कुछ जगहों पर रातके बारह-अेक बजे तक नाट्य-प्रयोग चलते रहते हैं। कभी-कभी लड़के अपने पाठ या गीतको केवल ग्रामोफोनके रेकार्डकी तरह बोल जाते हैं। अुनकी स्तब्ध और अर्थहीन आंखें यह बतला देती हैं कि अुनका अपने पाठके अर्थकी ओर जरा भी ध्यान नहीं है ; अुनका सारा ध्यान अिसी बात पर केन्द्रित हो गया है कि पाठके शब्दोंमें भूल न हो। सम्मेलनोंका अिस प्रकारका अुपयोग दोषपूर्ण है।

अिसके अलावा अिसमें अेक प्रकारकी आत्म-प्रवंचना भी होती है। अैसे सम्मेलनोंमें विद्यार्थियोंसे अच्छा काम करवाकर शिक्षक अपने-आपको कृतार्थ समझ लेते हैं, लड़के मान लेते हैं कि खूब आनन्द मिला, और लड़कोंके माता-पिता घर जाकर अिस संतोषसे निश्चिन्त हो जाते हैं कि अुनके लड़कोंकी पढ़ाअी अच्छी चल रही है। मेरी रायमें तो यह शिक्षाका अेक गौण अंग है।

यों कहकर मैं शिक्षकोंके सिर दोष मढ़ना नहीं चाहता। शिक्षक, विद्यार्थी, पालक या माता-पिता सभी प्रथाके दास हैं। जहां अेक प्रथा लोकप्रिय बनी कि हम अुसकी ओर खिंचने लगते हैं। सम्मेलनों और नाट्य-प्रयोगोंका जमाना शुरू हुआ कि हम अुसीमें शिक्षाका सार समाया हुआ मानने लगे हैं। अैसी ही अेक प्रथा कुछ समयसे हस्त-लिखित मासिकोंकी और संगीतकी शिक्षाकी भी चल पड़ी है। हरअेक प्रथामें कुछ-न-कुछ गुण तो रहते ही हैं। परंतु जब हम प्रथाके स्वामी न रहकर अुसके दास बनने लगते हैं, तब अुसके लाभ व्यर्थ हो जाते हैं और शायद विषरूप भी हो जाते हैं। किसी भी प्रथासे लाभ अुठाना हो तो अुसका हमें संयमपूर्वक ही पोषण करना चाहिये। आनन्द-प्राप्तिके लिअे निर्माण हुअी

प्रथाके विषयमें यह ध्यान रखना विशेष रूपसे आवश्यक है। नाट्य-प्रयोग, संगीत, मासिक-लेखन आदिमें हमें आनन्द आता हो तो भी, मेरी नम्र रायमें, अिस आनन्दके अुचित पोषणके लिअे हमें सब अतिशयताओंका त्याग करना चाहिये। अेकाध छोटासा, सरल, भावपूर्ण और अर्थ समझकर याद किया हुआ पाठ, बालकोंके स्वभावके अनुकूल नाट्य-प्रयोग, अेकाध सादा और सद्भाववाला संगीत, अेकाध छोटासा अच्छा मासिक — यदि अितनेसे हमें संतोष न हो तो समझ लेना चाहिये कि जैसे हममें से बहुतेरोंकी जीभ अितनी बिगड़ी हुअी होती है कि बगैर शक्करके दूधमें रही मिठासका अुन्हें पता ही नहीं चलता, अुसी तरह हमारी दूसरी अिन्द्रियां भी अुतनी ही जड़ हो गअी हैं।

दूसरी ओर ये सम्मेलन हमारी प्रजाकी मनोवृत्तिका अच्छी तरह भान कराते हैं। अेक छोटेसे गांवसे लेकर शहर तककी हमारी सारी प्रजाको कौनसी चीजें पसन्द आती हैं? देहातके आचार्य अपना कार्यक्रम अिस ढंगसे जमाते हैं कि शालाके कामका विवरण तथा अध्यक्षका भाषण आरंभमें या बीचमें रहे और नाट्य-प्रयोग अन्तमें या आरंभ और अन्तमें रहे। अिसका कारण यह है कि पालक लड़कोंकी प्रगति और कल्याणकी बातें सुनना नहीं चाहते; अुन्हें तो नाटक और गायनका आनन्द लेना होता है। अिसलिअे प्रयोगोंके समय शान्ति रहती है, और विवरण तथा भाषणके समय गड़बड़ी मच जाती है। जैसे शहरमें वैसे ही देहातमें हमें विलास ही पसन्द होता है। अिसलिअे अपने बालकोंकी भी विलास-वृत्तियोंका पोषण करनेमें हम अुनका शिक्षण मानते हैं। कुछ शालाओंके विवरणोंमें आवश्यकताओंके खानेमें संगीत और व्यायामके शिक्षकोंकी आवश्यकता बताअी जाती है। मैंने प्रायः यह देखा है कि व्यायामकी अपेक्षा संगीतकी कमी जल्दी ही दूर की जाती है। हमें शौर्यकी अपेक्षा विलास अधिक प्रिय है, अिसलिअे नाट्यकला, संगीतकला, चित्रकला, काव्यकला, कहानी-कला आदिकी ओर हम खूब ध्यान दे रहे हैं। हिन्दुस्तानमें आनेके बाद गांधीजीने संगीत, कवायद और बुनाअीकी शिक्षा पर बहुत जोर दिया। अुनमें से हमने संगीतको तुरन्त स्वीकार कर लिया, क्योंकि वह पसीना बहाये बिना अिन्द्रियोंको आनन्द देनेवाली चीज है।

हमें आनन्द तो चाहिये, किन्तु पसीना बहाना अच्छा नहीं लगता। अिसलिअे दूसरी बातोंकी ओर हमने ध्यान नहीं दिया या अुनका विरोध किया है।

अिस विलासकी रुचिके कारण ही हमें चरखा शालामें पुसाता नहीं मालूम होता। असहयोग परसे हमारा विश्वास अुठता जा रहा है, अिसलिअे राष्ट्रीय शालाओंमें विद्यार्थियोंकी संख्या भी घटने लगी है। अुनमें अहमदाबादकी नअी गुजराती शाला जैसी कुछ शालाअें अपवादरूप मालूम होती हैं। किन्तु अिसका कारण यह नहीं कि अुन विद्यार्थियोंके पालकोंका राष्ट्रीय शिक्षामें विश्वास है, बल्कि यह है कि राष्ट्रीय शिक्षाके खास सिद्धान्तोंका स्पर्श अुन शालाओं तक नहीं पहुंचा है। चरखे पर जरा विशेष जोर देनेके लिअे कहा जाय या कोअी अछूत बालक वहां बैठनेके लिअे आ जाय, तो आचार्यजीकी छाती धड़कने लगेगी। अैसी दयाजनक स्थिति हमारी है। हमें विलास अच्छा लगता है, अिसीलिअे हाथ-पैरका श्रम करानेवाली शिक्षा पसन्द नहीं आती। विलासकी प्राप्तिके लिअे धन और फुरसत दोनों चाहिये। अिसलिअे हम अैसी शिक्षाको अच्छी मानते हैं, जो हमारी विलासकी वृत्तियोंको बढ़ाये, थोड़ीसी मेहनतसे धनका ढेर खड़ा कर देनेकी शक्ति दे, तथा हमें अपने हाथ-पैर हिलानेके लिअे मजबूर न करे। यदि महात्मा गांधी अैसी कोअी युक्ति ढूंढ़ निकालें जिससे न्यूयार्कके फीचर या लिव्हरपूलके बाजार पर होनेवाले सट्टे अचूक रूपमें हमारे ही लाभमें निकलें और अुसकी शिक्षा देनेकी व्यवस्था विद्यापीठमें हो, तो आज विद्यापीठ विद्यार्थियोंसे अुभर पड़ेगा। परंतु गांधीजी तो हमें मजदूरी करनेके लिअे कहते हैं; प्रामाणिक श्रमसे जितना कमाया जा सके अुतनी कमाअीसे गुजारा करनेके लिअे कहते हैं। वह हमसे नहीं हो सकता। हमारे बालकोंके सामने अैसा आदर्श रखना भी हमें दुःखदायी मालूम होता है।

अस्तु, ये पाठशालाअें अिस सिद्धान्तसे नहीं चलतीं। बल्कि अुन्हें अैसी अच्छी प्राथमिक शालायें बनानेकी कोशिश रहती है, जो मध्यम वर्ग या अुससे थोड़े अधिक धनी वर्गके रहन-सहन और सुशिक्षाके खयालोंके अनुकूल हों। अिसलिअे अुनमें म्युनिसिपैलिटीकी प्राथमिक शालाओंसे

विशेष सुविधाओंवाली (more liberal) शिक्षा देनेकी व्यवस्था रहती है। यही दृष्टि सामने रखकर हम अुन शालाओंके बारेमें यहां कुछ विचार करें।

यदि हम अिसके कारणोंकी जांच करें कि शालाओंको अैसे सम्मेलन करनेकी जरूरत क्यों होती है, तो दिखाअी देगा कि आम तौर पर माता-पिता अपने बालकोंकी ओर लापरवाह रहते हैं। वह लापरवाही अिस हद तक तो नहीं होती कि लड़का पढ़े तो पढ़े, न पढ़े तो न पढ़े। परंतु हर महीने ५–७–१० रुपये खर्च करके आसपास जो भी अच्छी शाला हो वहां बालकको बैठाकर, वह जो पुस्तकें वगैरा मांगे अुसका प्रबंध करके और जरूरत हो तो अेकाध खानगी शिक्षक रखकर माता-पिताको लगता है कि अुन्होंने बालककी शिक्षाके संबंधमें अपना कर्तव्य पूरा कर दिया। यदि लड़केमें कोअी खास अवगुण न हों और वह सीधा हो, तो अितनी व्यवस्थाके बाद माता-पिताको लगने लगता है कि बस सारी जिम्मेदारी पूरी हो गअी। अैसे सम्मेलनोंमें वह कुछ कर दिखाता है तभी माता-पिताको मालूम होता है कि लड़का कुछ प्रगति कर रहा है; शालाका मकान देखनेका प्रसंग भी तभी आता है। पालक कमसे कम अेक ही बार शालामें आ जायं, अिसके लिअे शिक्षकोंको अितना आडम्बर करना पड़ता है।

परंतु अच्छीसे अच्छी शालामें लड़कोंको बैठा देनेसे ही पालकोंका कर्तव्य पूरा नहीं हो जाता। अच्छीसे अच्छी शाला विशेष अच्छी क्यों नहीं होती, अिसका अुन्हें विचार करना चाहिये। यह विचार करनेका भार वे शिक्षकों या व्यवस्थापकों पर डाल देते हैं। यदि पालकोंको अपने आदर्शोंके अनुसार भी बालकोंको अच्छीसे अच्छी शिक्षा देनी हो, तो वह अिस रीतिसे नहीं दी जा सकती। साधारणतः माता-पिताकी यह वृत्ति होती है कि शालाको जरूरत हो तो वह अेककी जगह दो रुपया फीस ले ले, परंतु हमें बालकोंकी शिक्षाके विषयमें किसी तरह की चिन्ता करनेकी जरूरत न रह जानी चाहिये ; अैसा प्रबंध होना चाहिये कि अिस बारेमें हमें कुछ देखना ही न पड़े। यह स्थिति मैं सर्वत्र अितनी ज्यादा सामान्य रूपमें फैली हुअी देखता हूं कि मुझे कठोर बनकर कहना पड़ता है कि अैसे लोग गृहस्थाश्रमी और माता-पिता बननेके लिअे सर्वथा अयोग्य हैं।

पाठक मुझे मेरे अिन शब्दोंके लिअे क्षमा करें। अेक तो मैं अुम्रमें छोटा हूं और दूसरे मुझ पर पालकपनका बोझ नहीं है, अिसलिअे ये शब्द कहनेका मुझे अधिकार नहीं है। परंतु मुझे लगता है कि अिसमें मैं अतिशयोक्ति नहीं कर रहा हूं। माता-पिता अपने बालकोंके लिअे धन बढ़ानेकी अवश्य ही तन-तोड़ मेहनत करते हैं, किन्तु बालकोंकी आन्तरिक पूंजी बढ़ानेके लिअे अुन्हें लापरवाहीसे दूसरोंके सुपुर्द किया जाता है, यह मुझे ठीक नहीं मालूम होता। यदि पालक शालाके बारेमें विचार करते हों तो, अुदाहरणार्थ, नअी गुजराती शालाकी अैसी दयाजनक स्थिति अुन्हें असह्य क्यों न लगनी चाहिये? पांच-पांच सालसे यह शाला अेक बाड़ीमें लग रही है, अुसके वर्गोंके बीचके परदे कच्ची चटाअीके हैं। वहां न तो बड़ा मैदान है, न कोअी बगीचा है। अेक संकड़ी जगहमें शिक्षकोंने परिश्रम करके जितना कुछ कर लिया अुतना ही है। साधारणत: शिक्षकोंकी आवाज जोरकी होती है। अिस स्थितिमें जब वर्ग चलते होंगे, तब यह तो हो ही नहीं सकता कि अेक वर्गका शोर दूसरे वर्गके काममें बाधक न बने। अहमदाबाद कोअी गरीब या छोटासा गांव नहीं है। लड़कोंको सब सुविधाओंवाला शिक्षण (liberal education) देनेकी अिच्छा रखनेवाले लोगोंकी शालाकी स्थिति अितनी विचित्र नहीं होनी चाहिये। अहमदाबादको शोभा देनेवाली शाला तो अेक बड़े बगीचेके बीच सादे किन्तु शान्तिपूर्ण और सब प्रकारकी सुविधाओंवाले मकानमें होनी चाहिये; और अुसमें प्रवेश करते ही मन प्रफुल्ल हो जाना चाहिये। मुझे विश्वास है कि यदि कोअी खानगी साहससे अैसी सुविधाओंवाली शाला आरंभ करे, तो अहमदावादके निवासी अधिक फीस देकर भी अपने बालकोंको अुसमें भेजेंगे। लेकिन जो शालायें आज चल रही हैं वे क्यों नहीं सुधरतीं, अिसका विचार करनेकी हमें फुरसत ही नहीं होती। मुझे अिसी बातका बड़ा दु:ख होता है कि हमारी बुद्धि अितनी स्थिर नहीं है कि हम गरीबी और सादगीको आदर्श मान लें; हमें भी पश्चिमके लोगों जैसा ही सुख-सुविधा, आनन्द और विविधतावाला जीवन चाहिये; फिर भी यह सब प्राप्त करनेके लिअे अुन लोगों जैसी मेहनत करनेकी वृत्ति हममें नहीं है। कोअी सब तैयार करके दे दे तो अुत्तम। कोअी

पहल करे तो हम अुसके पीछे चलेंगे, परंतु अपने विचारसे हमें जो सुखरूप मालूम होता है, अुसे प्राप्त करनेके लिअे श्रम करनेका हममें अुत्साह पैदा नहीं होता।

नवजीवन (केळवणी अंक), २४-५-'२५

२

आदर्श आचार्य

विद्यामंदिरोंके बारेमें विविध प्रकारके प्रश्न बार-बार पूछे जाते हैं। अुनका अुत्तर देना हमेशा आसान नहीं होता। क्या पढ़ाया जाय और किस प्रकार पढ़ाया जाय, यह मंदिरको मिलनेवाले शिक्षकों पर निर्भर है। चाहे जितनी अच्छी पुस्तकें हों और चाहे जितनी सर्वांगपूर्ण योजनायें बनाअी गअी हों, परंतु यदि अुनके लिअे योग्य शिक्षक न मिलें तो जड़ पुस्तकें और योजनायें विद्यार्थियोंको कोअी लाभ नहीं पहुंचा सकतीं।

आचार्य नियुक्त करनेमें कौन-कौनसी बातें देखी जायें, अिस बारेमें मेरे व्यक्तिगत विचार अिस प्रकार हैं:

१. जो धर्मप्रिय हो। धर्मप्रिय अर्थात् सत्यवादी, कर्तव्य-परायण, प्रामाणिक, सच बोलनेसे न डरनेवाला, बगैर हिम्मतके कोरी बातें न करनेवाला, अुत्साही, मितव्ययी और संयमी।

२. जिसका कौटुम्बिक जीवन शुद्ध, प्रेमपूर्ण तथा सहयोगवाला हो।

३. जिसे छोटे-छोटे बच्चोंके सहवासमें रुचि हो और आनन्द आता हो।

४. जिसे शिक्षाके सिवा दूसरी प्रवृत्तियोंमें भाग लेकर आगे बढ़नेकी आकांक्षा न हो, और जो सौंपे हुअे कामको छोड़कर दूसरी बातोंमें अपनी शक्ति खर्च करनेवाला न हो।

५. जिसे ज्ञान बढ़ानेका अुत्साह हो। किन्तु वह अुत्साह अैसा अनुचित न हो कि जिससे वह विद्यार्थियोंके प्रति अपना फर्ज

अदा न कर सके, और वर्गमें तथा वर्गके लिअे तैयारी करनेके समयमें अपने ही शौकके विषयमें मस्त रहे।

६. जो बीड़ी पीने, अपशब्द बोलने, डांटकर या धमका कर बोलने, और अपना अज्ञान स्वीकार करनेमें शरमाने वगैराकी बुरी आदतोंसे मुक्त हो। और,

७. जो निरंतर अुद्योगमें लगे रहनेमें, परिश्रम करनेकी शक्ति प्राप्त करनेमें और मेहनत पर ही गुजर करनेमें अपना गौरव मानता हो।

जिसमें ये गुण होंगे, अुसमें जितनी भी योग्यता होगी अुतनीसे मैं संतोष मानूंगा, और अुसे निःसंकोच कोअी भी विद्यामंदिर सौंप दूंगा। वह जितना कुछ विद्यार्थियोंको सिखा सकेगा अुतना मेरे लिअे काफी होगा। अुसे अपनी शक्तिके अनुसार मैं पाठ्यक्रम बनाने दूंगा। वह किसी भी तरहका पाठ्यक्रम न बनाकर विद्यार्थियोंमें केवल श्रमके लिअे आदर-भाव पैदा करे और ममतालु मांकी तरह अुन पर प्रेम बरसाये तथा अुनका प्रेम संपादन करे, तो अुतनेसे भी मैं संतोष मानूंगा।

अिसमें मैंने अुसकी शिक्षणकी योग्यता नहीं बतलाअी है। किन्तु मैं चाहूंगा कि अुसमें देशकी वर्तमान स्थिति, आजका युगधर्म समझनेकी शक्ति हो, और स्वदेशी धर्ममें अुसकी श्रद्धा हो। लेकिन ये गुण न हों तो भी मैं अुसे निबाह लूंगा। क्योंकि मुझे आशा रहेगी कि यह सब वह किसी दिन समझ जायगा, और अैसी श्रद्धा रहेगी कि यदि समझ गया तो अुस पर अमल भी अवश्य करेगा।

संभव है केवल अितनी बातोंसे सबको संतोष न हो। मैंने अुसकी अुच्चारण-शुद्धि, लेखन-शुद्धि, अनेक विषयोंकी जानकारी तथा शिक्षा-शास्त्रके ज्ञानके बारेमें कुछ भी नहीं लिखा। अिससे कोअी यह न समझ बैठे कि मैं अिन बातोंको अनावश्यक अथवा तुच्छ समझता हूं। बात अितनी ही है कि अूपर गिनाअी हुअी बातोंसे अिन्हें विशेष महत्त्व देनेका मेरा मन नहीं होता। मुझे यह विश्वास तो नहीं है कि पढ़नेकी तीव्र अिच्छा-वाले विद्यार्थियोंको अैसे शिक्षकसे संतोष होगा ही; परंतु जिस शिक्षकमें अूपर बतलाये हुअे गुण न हों अुससे बहुतसा ज्ञान प्राप्त करने पर भी

विद्यार्थियोंका किसी भी तरहका विकास होनेकी आशा नहीं रखी जा सकती। मेरा नम्र मत तो यह है कि अैसे आचार्य द्वारा संचालित विद्यामंदिरके विद्यार्थी ही अपने-आपको, कुटुम्बको और जगतको सुखी करनेकी शिक्षा पा सकेंगे। दूसरी अनेक विद्याओंमें विशारद और पारंगत होनेके लिअे महान पण्डितों, कीमती पाठ्यपुस्तकों, खर्चीले पुस्तकालयों, विद्यापीठ कार्यालयों और बड़े-बड़े चन्दोंकी आवश्यकता है। अैसी किसी विद्यामें प्रवीणता प्राप्त करना अच्छा है। अुसके लिअे देशके पास साधन भी होने चाहिये। परंतु जिस विद्यासे पढ़नेवालों तथा पड़ोसियों और जगतको सुख और शान्ति मिल सकती है, वह तो दूसरी ही विद्या है। अुस कल्याण-कारी विद्यामें विशारद होनेके लिअे अूपर बताया हुआ आचार्य काफी है। शालान्त परीक्षा पास करनेवाला विद्यार्थी भी अिस विद्याका स्नातक हो सकता है, परंतु संभव है महाविद्यालयके विद्यार्थी अुसमें असफल रहें। अिसके लिअे पाठ्यपुस्तकों और पुस्तकालयोंकी जरूरत कम है। अेक चरित्रवान आचार्य विद्यामंदिरके लिअे संपूर्ण साधन-संपत्ति माना जायगा।

राष्ट्रीय शिक्षाके विषयमें मेरी सलाह लेनेवाले भाअियोंकी समझमें यदि मेरी बात आती हो, तो मैं अितना ही कहूंगा कि आप अपने कुमार[1], विनय[2] या महाविद्या-मंदिरों[3]में कल्याण-विद्याकी शाखा पहले खोलें, और साधनोंकी अनुकूलताके अनुसार दूसरी विद्यायें बादमें दाखिल करें।

जो आचार्य अपने विद्यार्थियोंको धर्मप्रिय, प्रेमल, सरल, अेकाग्र, जिज्ञासु, निर्दोष वाणीवाले और परिश्रमी बना सकेंगे, अुनके विद्यार्थियोंको भूखों मरनेका, धर्मभ्रष्ट होनेका, बुद्धिहीन बननेका या परावलंबी बननेका डर नहीं लगता, यह स्पष्ट रूपमें प्रकट हो जाना चाहिये।

नवजीवन, ६–५–'२३

१, २, ३ गुजरात विद्यापीठकी प्राथमिक, माध्यमिक और अुच्च शिक्षाकी शालाओंके नाम हैं।

३

कुछ हरिजन छात्रालय

कर्नाटक तथा काठियावाड़में अचानक ही कुछ हरिजन छात्रालय देखनेका प्रसंग आया। धारवाड़ जिलेके कोरठूर गांवमें वस्त्र-स्वावलंबनकी मुख्य प्रवृत्ति है। वहांके हरिजन आश्रममें भी अिसी प्रवृत्तिका वातावरण दिखाअी दिया। अेक ही खंडके लंबे-चौड़े झोंपड़ेमें अेक परदा लगाकर अेक ओर धुनकियां चलाअी जा रही थीं, दूसरी ओर लड़के-लड़कियां, युवतियां और बूढ़ियां चरखा चला रही थीं। अेक भागमें सभाकी व्यवस्था की गअी थी। अेक हरिजन विद्यार्थीको अपना बनाया हुआ संवाद अभिनयके साथ सुनानेकी अिच्छा हुअी। वह संवाद अेक प्रसिद्ध लिंगायत भक्तके वचनों और जीवन-प्रसंगोंसे लगभग अुसीकी भाषामें रचा गया था। वह कन्नड़ भाषामें था, अिसलिये मैं अुसे ठीक तरह समझ न सका। परंतु श्री दिवाकरजीने मुझे अुसका भावार्थ समझाया। प्रसंग यह था कि अेक हरिजन शिष्य अुस भक्तको प्रणाम करनेके लिये आया। भक्तने अुत्तरमें अुसे नमस्कार किया। अिस पर अुस शिष्य तथा दूसरे शिष्योंने प्रश्न किया कि आपके जैसा बड़ा आदमी अपने शिष्यके, और वह भी अेक नीच जातिके शिष्यके, नमस्कारके अुत्तरमें नमस्कार करे, यह कहां तक अुचित माना जायगा? अिस पर अुस भक्तने सबकी समानता तथा नम्रताके विषयमें अेक प्रवचन दिया।

दूसरा अेक आश्रम निपाणी गांवमें अेक तरुण हरिजनसेवक चला रहे हैं। वह भी अेक छोटेसे झोंपड़ेमें है। यदि हम अेक-अेक झोंपड़ेको छोटासा हरिजन छात्रालय कहें तो अनुचित नहीं होगा। वहां ७ से १४ वर्ष तकके बालक अत्यन्त सादगीसे रहते और पढ़ते हैं। थोड़ा व्यायाम करते हैं, थोड़ा कातने-पींजनेका काम करते हैं, तथा बहुत करके शालामें पढ़नेके लिअे जाते हैं। मुझे आश्रमकी तफसीलमें जानेका समय नहीं मिला। लेकिन श्री ठक्करबापाने वहांकी भेंट-पुस्तिकामें जो बात लिखी, वही छाप मुझ पर भी पड़ी। श्री . . . अुत्साही सेवक हैं, परंतु

अुन्हें अनेक-विध प्रवृत्तियोंमें भाग लेने और विशाल क्षेत्रमें काम करनेका जो लोभ है, अुसकी अपेक्षा यदि वे अिस आश्रमके लिअे अधिक परिश्रम करें तो ज्यादा ठीक होगा। आश्रमकी रिपोर्ट मैंने ध्यानपूर्वक पढ़ी। अुसमें जो बात मुझे खटकी वह है संचालककी बार-बार आनेवाली आत्म-प्रशंसा। अुनकी अुम्र अभी तीसके भीतर है। यदि 'कीर्तिकी दीवारें' वे अितनी जल्दी चुनवाने लगेंगे तो अुसमें खतरा है।

निपाणीका श्री वीरशैव केक्कय समाजका बोर्डिंग भी मेरा ध्यान खींचे बिना नहीं रहा। वह बोर्डिंग मांग या चमारसे मिलती-जुलती अेक जातिके स्कूल तथा कॉलेजके कुछ विद्यार्थी चलाते हैं। अुसके लिअे चन्दा भी प्रायः वे सब अपनी जातिमें से ही अिकट्ठा करते हैं। कुछ विद्यार्थियोंको सरकारी छात्रवृत्ति मिलती है। वह भी वे अुसी बोर्डिंगको दे देते हैं, और अिस प्रकार लगभग बीस विद्यार्थी अुस बोर्डिंगमें खाते-पीते और पढ़ते हैं। सभी व्यवस्था विद्यार्थी अपने हाथसे ही कर लेते हैं। अिस स्वावलंबी प्रवृत्तिके लिअे वे विद्यार्थी धन्यवादके पात्र हैं।

कर्नाटकके घास-मिट्टीकी झोंपड़ियोंमें चलनेवाले अिन आश्रमोंको देखनेके बाद जब काठियावाड़में जाते हैं तो चित्रमें अेकदम परिवर्तन दिखाअी पड़ता है। वहांकी तुलनामें काठियावाड़की संस्थाओंके मकान विशाल भवन माने जायंगे। विद्यार्थियोंकी संख्या कर्नाटक, काठियावाड़ या साबरमती कहीं भी तीससे ज्यादा शायद ही हो। परंतु कर्नाटककी सादगी और अुद्योगमयता काठियावाड़में न पाकर मुझे खेद हुआ। लड़के, लड़कियां तथा शिक्षक — सभी रसिक दिखाअी देनेके लिअे बहुत चिन्तित मालूम हुअे। सवर्ण तथा अवर्ण सभी तरुण-तरुणियोंको देखकर मेरे मनमें अेक ही प्रश्न अुठा कि समाजका सच्चा गुरु कौन है? और अुत्तर मिला कि रंगभूमिके नट और नटियां। मेरे बचपनमें जिस प्रकारके नृत्य, रास, कपड़े तथा बालोंकी भिन्न भिन्न फैशनें नाटकमें लड़के या लड़कीका वेश धारण करनेवाले नटोंमें दिखाअी देती थीं, वे आज सारे समाजमें फैली हुअी रूढ़ियां बन गअी हैं।

भावनगरके 'ठक्करबापा हरिजन आश्रम' ने मेरे लिअे दो-अढ़ाअी घण्टोंका कार्यक्रम रखा था। अुसमें मजीरे और पखावजके साथ

गाया गया रास था, दोहे थे, बैठे-बैठे गाये गये लोकगीत थे, और पनिहारिन (बल्कि पनिहारे)का पानीका घड़ा सिर पर रख कर किया गया नृत्य था। मेहमानको अपनी विशेषता दिखलानेकी दृष्टिसे यदि यह व्यवस्था की गअी हो, तो मुझे खेदके साथ कहना होगा कि मेरा मन अुससे खुश नहीं हुआ। अिसका अर्थ यह नहीं कि वे भजन, रास, दोहे, लोकगीत या नृत्य अच्छी तरह सम्पन्न नहीं हुअे थे, या अुनमें कला नहीं थी। पानीका घड़ा सिर पर रख कर किया गया नृत्य साधारण नहीं था। परन्तु जब मैं यह विचार करता हूं कि हम लड़के-लड़कियोंमें किस प्रकारके शौक बढ़ा रहे हैं, हम कैसे छिछले रसोन्माद और बेढंगी भावनाशीलताके पीछे पड़े हुअे हैं, तो सौंदर्य और संस्कारिताका भास करानेवाली यह शिक्षा मुझे खिन्न कर देती है। अुसमें भी जब पानीका घड़ा सिर पर रखकर नाचनेवाले लड़के (अेक सोलह-सत्रह वर्षके युवक) ने 'साहेली, मने रास रम्याना कोड'* या अैसा ही कोअी गीत गाना शुरू किया और अुसके साथ वह स्त्रैण हावभाव बतलाने लगा, तब यह सारी प्रवृत्ति जिस विचारशून्य रीतिसे चल रही है, अुसका मुझे दुःख हुअे बिना नहीं रहा। गुजरात-सौराष्ट्रकी संस्कृतिकी यदि यही विशेष साधना है, तो मेरी नम्र रायमें यह कोअी बहुत बड़ी विशेषता नहीं है।

कर्नाटककी अपेक्षा काठियावाड़की हरिजन संस्थाओंमें खादी भी कम दिखाअी दी, और अैसे विद्यार्थी मुश्किलसे दिखाअी दिये, जो भली-भांति कातना जानते हों, या जिनके पास सूतका अितना संग्रह हो जिसे बुनवाया जा सके।

काठियावाड़में अेक प्रकारकी जागृति मुझे विशेष प्रमाणमें दिखाअी दी। डॉ० आम्बेडकरने हरिजनोंके धर्म-परिवर्तनके संबंधमें जो वक्तव्य प्रकाशित किया है, अुस पर छोटी तथा बड़ी अुम्रवाले हरिजनोंने मुझे हर जगह प्रश्न पूछे। हरिजनोंको अस्पृश्यता कितनी चुभने लगी है और अुसका अन्त करनेके लिअे वे कितने अधीर हो गये हैं, यह अुनके प्रश्नोंसे तुरन्त मालूम हो सकता है। अुनका कहना था कि अस्पृश्यता कम हुअी है और अुसे मिटानेके लिअे गांधीजीने अपार श्रम किया है, यह मानते

* हे सखी, मुझे रास खेलनेकी अुत्कट अिच्छा है।

हुअे भी अैसा नहीं कहा जा सकता कि कितने समयमें अुसका पूरी तरह नाश हो जायगा। अिसलिअे वे पूछते हैं कि हम अिस अपमानित स्थितिमें कब तक रहें। मैंने अुन्हें धीरज रखनेके लिअे समझाया है, फिर भी प्रश्न पूछनेवाले भाअियोंके प्रति सहानुभूति पैदा हुअे बिना नहीं रहती। मैं यदि हरिजन पैदा हुआ होता, तो मैं भी अितना ही अधीर हो जाता।

हरिजनबन्धु, १५–१२–'३५

४

बालकोंके नृत्य और नाटक

कराचीमें हाल ही जो गुजराती साहित्य सम्मेलन हुआ, अुसके निमित्तसे हमें दो रात बालकोंके नृत्य और नाटक देखनेका अवसर मिला। शृंगार और हावभावकी सादगीकी मर्यादाके साथ यदि बालक अिस प्रकारके नाटक, संगीत, रास आदि दिखायें, तो अुसमें मैं दोष नहीं मानता। अिसलिअे जब कभी सुविधा होती है, मैं अैसे समारंभोंमें शरीक हो जाता हूं। अिन समारंभोंमें शरीक होनेका अेक अुद्देश्य यह भी होता है कि अुससे बालकोंकी पढ़ाअी किस प्रकार चल रही है अिसका तथा बालकों, शिक्षकों और प्रेक्षकोंके मानसका अवलोकन करनेका मौका मिलता है। अिसीके साथ निर्दोष मनोरंजनका लालच भी रहता है।

पहली रातको केवल बालिकाओंके ही प्रयोग थे। अुनमें नृत्य, संगीत, अभिनय, रंगभूमिकी सजावट और वस्त्रोंके शृंगार, अिन सबमें प्रेक्षकोंको मोहित करनेवाली कला (युक्ति) की भरमार थी। अुन प्रयोगोंको देखकर प्रेक्षक बाग-बाग हो गये थे। श्री मुनशीके हाथ सात बालिकाओंको जो पदक दिलवाये गये, अुन परसे प्रेक्षकोंके आनन्दका माप निकाला जा सकता है। गुजरातके प्रख्यात कला-मर्मज्ञ यदि अुसकी कद्र करनेके लिअे वहां अुपस्थित न होते, तो भी मुझे विश्वास है कि सामान्य प्रेक्षक भी अुन प्रयोगोंकी प्रशंसा किये बिना न रहते।

दूसरे दिन शारदा-मन्दिरके बालक-बालिकाओंने नाट्य-प्रयोगोंका अभिनय किया। ये प्रयोग मन्दिरकी ओरसे कराचीमें तीसरी या चौथी बार किये जा रहे थे। अुनमें काम करनेवाले अेक बालकने अपना काम बहुत ही सुन्दर ढंगसे किया था। अिससे पहले भी कराचीकी जनता अुस विद्यार्थीको पांच-छह पदक दे चुकी थी, और छठा या सातवां पदक अुस रात काकासाहबके हाथसे दिया गया। अिस बालकको जो प्रशंसा मिली, वह सर्वथा अुचित थी। लेकिन छोटी अुम्रमें बालकोंकी किस हद तक सार्वजनिक प्रशंसा की जानी चाहिये, यह अेक अलग प्रश्न है। अिस प्रश्न पर शिक्षाशास्त्रियोंको विचार करना है। काकासाहबने पदक देते समय अुस बालककी प्रशंसा भी की और अपने कलामय ढंगसे अुस बालकके शिक्षकोंको यह सलाह भी दी कि अुसके हितकी ओर दुर्लक्ष न किया जाय।

अिस प्रकार वे नाट्य-नृत्यके शिक्षणके सफल प्रयोग कहे जा सकते हैं। केवल कराचीके समाजने ही नहीं, परन्तु सारे गुजरात और महागुजरातके साहित्यकारों, कलाकारों, गायकों, विवेचकों और चिन्तकोंने भी अुनकी परीक्षा करके प्रमाणपत्र दिये हैं।

फिर भी मुझे संकोचके साथ यह स्वीकार करना पड़ता है कि जिस समय सारी नाटकशाला रसानन्दमें मग्न दिखाअी देती थी, अुस समय मेरे मन पर कुछ ग्लानिकी छाया फैल रही थी। अैसी ही भावना जब मैंने श्री नानाभाअी भट्टमें भी देखी, तब मेरा यह खयाल दूर हुआ कि सारे रसिकोंके बीच मैं ही अकेला रसमूढ़ हूं। अिस विचारसे मुझे थोड़ा आश्वासन मिला कि मेरे साथ अेक अैसे बड़े भागीदार हैं, जो शिक्षाशास्त्रीके नाते प्राप्त की हुअी अपनी साखको खो सकते हैं।

अिससे कराचीकी जनता यह न समझे कि अुसके मधुर अतिथि-सत्कारका आनन्द लेनेके बाद घर जाकर मैं अुसकी निन्दा करना चाहता हूं। सारे गुजरात — या लगभग सारी दुनियाके बड़े शहरोंमें — जिस प्रकारका शिक्षण आज चल रहा है, कराचीने अुसीकी झांकी सुन्दर ढंगसे कराअी। बम्बअी, अहमदाबाद, भावनगर और वर्धामें भी नृत्यों और नाटकोंके अैसे प्रदर्शन किये जाते हैं। साधनोंके मुताबिक तड़क-भड़क

कम-ज्यादा भले हो, किन्तु वृत्ति या दृष्टिमें फर्क नहीं होता। अर्थात् यह आजके जमानेकी अेक फैशन ही हो गअी है। अिसलिअे मेरी टीका कराची पर नहीं, हमारी आजकी फैशन और मनोदशा पर है।

हम अपनी अुगती हुअी पीढ़ीको किस दिशामें मोड़ना चाहते हैं, अिस पर विचार करनेके लिअे मैं शिक्षकों, पालकों और पुरस्कार देकर बालकोंकी कद्र करनेवालोंसे नम्र विनती करता हूं। मेरा यह नम्र मत है कि जिन बालक-बालिकाओंको अुनके अभिनयके लिअे पारितोषिक दिये गये और जिनकी कच्ची अुम्रमें अत्यंत प्रशंसा और प्रसिद्धि की गअी, अुनके हितका हमने पूरा खयाल नहीं किया। यदि माता-पिता, शिक्षकों और दर्शकोंकी यह अिच्छा हो कि वे बालक और भी सुन्दर नृत्य और नाटक बताते रहें और अुत्तम नट-नटी बनें, तब तो यह बात समझी जा सकती है। परन्तु मैं मानता हूं कि पदक पानेवाले बालक नट-नटीका जीवन बितायें, अैसा शायद ही कोअी पालक और शिक्षक चाहते होंगे। अधिकतर पालकों और शिक्षकोंकी वृत्ति तो यही होगी कि ये अभिनय बालकोंके जीवनका बाहरी अंग ही रहें, वे वर्षमें दो-चार बार अैसे दृश्य बतलाकर शान्त हो जायं और अुन्हें अिनका चसका न लग जाय।

नाटक, नृत्य, संगीत, चित्रकला आदि ललित कलायें दो रूपोंमें विकसित की जाती हैं : अेक, अपने संतोषके लिअे; और दूसरे, धन्धेके लिअे। धन्धेके लिअे अिन कलाओंका विकास करनेवालोंकी पद्धति और अुसका मापदण्ड निर्धारित करनेमें आश्रयदाताओंकी रुचिका और अपनी कलाको मोहक बनानेका खयाल रखा जाता है। अुसमें अुत्तेजक हावभाव, शृंगार, शोभा आदिके साथ ही कलाको मिला दिया जाता है। बहुत बार कला गौण होती है और कृत्रिम शोभा तथा मद पैदा करनेवाली सामग्री तथा चेष्टायें ही मुख्य होती हैं। अुनके साथ यदि नरसिंह मेहता, तुकाराम जैसोंके जीवन-चित्र बताये जाते हैं, तो केवल अिसीलिअे कि भले आदमी भी अुनकी ओर आकर्षित हों और अुनका विरोध कम हो। जो प्रेक्षकोंकी भोगवृत्तियोंका पोषण करना चाहता है, अुसके अपने जीवनमें तो अुनका अतिरेक हो ही जाता है। अिसका नतीजा यह होता है कि बेचारे

कलाकारोंका जीवन चरित्रकी दृष्टिसे अत्यन्त गिर जाता है। अुन्हें पेट भरनेके लिअे लोगोंकी हीन रुचियोंको बढ़ाना और अुनका पोषण करना पड़ता है और खुदको भी अुनका शिकार बनना पड़ता है।

शालाओंमें अुत्सवोंके समय दिखाये जानेवाले नाटकों और नृत्योंका शिक्षण धन्धेके लिअे नहीं दिया जाता। अिसलिअे सिनेमा, रंगभूमि, नृत्यशाला आदिके योजक शालाके गुरुजन न होने चाहिये। अर्थात् शालाके नाटच-समारंभोंमें अुनके अनुकरणका विचार भी नहीं होना चाहिये, तब फिर मोह तो रखा ही कैसे जा सकता है? अिसके विपरीत, संभव हो तो शालाके कला-शिक्षकोंका आदर्श यह सिद्ध कर दिखानेका होना चाहिये कि सादे-से-सादे साधनों और अत्यन्त शिष्ट और संयम-पूर्ण अभिनयसे भी कला पूर्ण रूपमें विकसित की जा सकती है और अुसका पूरा आनन्द लिया जा सकता है। और अैसा करके अुन्हें राजस वृत्तिके कलाकारों और प्रेक्षकोंको शुद्ध रुचिका स्वाद चखाना चाहिये। यह तो मैं आनन्दपूर्वक स्वीकार करता हूं कि अुस छह-सात पदक पानेवाले विद्यार्थीका अभिनय अिसी प्रकारका था। अुसकी कलाको विकसित करनेके लिअे रंग-बिरंगे प्रकाशों, भड़कीली पोशाक, सुन्दर परदों और दूसरी साधन-सामग्रीकी अपेक्षा न थी। यदि ये चीजें जोड़ दी जातीं, तो मेरी दृष्टिसे वह भद्दा लगता। परन्तु अुस विद्यार्थीका अभिनय तो सारे अभिनयोंमें अपवाद ही था। साधारणतः मेरा यह अनुभव है कि हमारे तरुणों और बालकोंने वेश-भूषा और नृत्य-नाटच आदिमें रंगभूमिके दिग्दर्शकों और नटोंको ही मानो अपना गुरु मान रखा है।

अेक पक्षका कहना तो यह है कि विद्यार्थियोंको पारितोषिक देनेकी प्रथा बंद हो जानी चाहिये। किन्तु यदि हम पारितोषिक देनेकी प्रथाको छोड़ न सकते हों, तो अुसमें विवेक तो रखना ही चाहिये। पारितोषिक तीन शुभ हेतुओंसे दिये जा सकते हैं: पानेवालेको आर्थिक लाभ पहुंचाना, अुसके प्रयत्नको प्रोत्साहन देना, और न पानेवालेमें सद्-अीर्षा पैदा करना। तीनोंके लिअे योग्य अवसर हो सकते हैं। अैसे प्रसंगों पर दिये हुअे पारितोषिक क्षम्य माने जायंगे। गरीब मनुष्यको आर्थिक लाभ पहुंचानेकी आवश्यकता हो सकती है। अिस प्रकार गरीब और होशियार विद्यार्थीके

लिअे पारितोषिक या छात्रवृत्तिकी योजना हो सकती है। कभी-कभी शक्तिशाली किन्तु मन्द पुरुषार्थीके लिअे भी पारितोषिकका प्रोत्साहन अुपयोगी हो सकता है। जो श्रम सभी कर सकते हों, जो सबसे करवाना भी अुचित हो, लेकिन पुरानी रूढ़ियोंके कारण न किया जाता हो, अुसके लिअे पारितोषिक देकर दूसरोंमें अुत्साह पैदा करनेकी आवश्यकता होती है। मैं अिस बातकी कल्पना कर सकता हूं कि शिक्षा तथा अुद्योगोंके प्रति रुचि बढ़ानेके लिअे अैसा करना पड़ सकता है। लेकिन खुशहाल घरोंके विद्यार्थियोंको नाटक, नृत्य जैसे अुत्साहसे सीखे जानेवाले विषयोंके लिअे पारितोषिक देनेकी जरूरत नहीं होती। अुसमें अच्छा काम करनेवालेकी कद्रमें प्रशंसाके दो शब्द कहना ही काफी समझना चाहिये। प्रशंसामें भी अितना संयम रखना चाहिये कि विद्यार्थीका दिमाग फूल न जाय।

आखिरमें नाटक, नृत्य, संगीत आदि सभी भोगवृत्तिसे संबंध रखनेवाली कलाओंके बारेमें हमें यह न भूलना चाहिये कि राष्ट्रका भविष्य संयमी प्रजाओंके हाथमें होता है। अिसलिअे हमारी कलाओंको विकसित करनेका तरीका संयम-वृत्तिका पोषण करनेवाला ही होना चाहिये। अेक भोग दूसरी भोगवृत्तियोंको अुत्तेजित करता है। अिसलिअे नाटककी वेश-भूषाकी अैसी योजना न करनी चाहिये, जिससे बालक छैल-छबीला बन जाय।

जिनका यह खयाल हो कि अितनी मर्यादाओंमें रहकर कलाका विकास करना कलाको कुंठित कर देने जैसा है, वे मेरी अल्पमतिके अनुसार कलाको शायद ही समझते हैं।

हरिजनबन्धु, १६–१–'३८

५

अितिहासकी शिक्षामें यथार्थताकी मात्रा

अिस विषय पर पिछले दो अंकोंमें चर्चा हुअी है। श्री कालिदासभाअीने प्रश्न अुठाया है कि अितिहास पढ़ाते समय राष्ट्र-भावना और नीति-भावनाके बीच भिन्न भिन्न दृष्टियोंसे विरोध दिखाअी दे तब क्या किया जाय? अिसके अुत्तरमें अेक भाअीने अकारण ही 'साशंक' नामसे अपना परिचय देकर पाठकोंको चौंधिया देनेवाली शब्दाडम्बरपूर्ण और स्वदेशाभिमानी शैलीमें अुस आदतका निषेध किया है, जिसके कारण हम अेक ही मुख्य साध्यसे चिपटे रहनेके बजाय अुनकी दृष्टिसे नीति, मानव-प्रेम आदिके अलग-अलग अप्रस्तुत प्रश्नोंको अुठाकर परेशान होते हैं।

अितिहासकी शिक्षाके बारेमें मेरे खयाल कुछ अलग हैं। अुसकी मैं आज चर्चा नहीं करूंगा। परन्तु मैं समझता हूं कि अिन दोनों मित्रोंने जो प्रश्न अुठाया है, अुस पर यदि कोअी विचार किया जाय तो वह आसानीसे हल किया जा सकता है।

जीवनमें अैसे बहुतेरे प्रसंग आते हैं, जब हमें धर्म और स्वार्थके बीच चुनाव करना होता है; अितना ही नहीं, दो अुदात्त भावनाओं या कर्तव्योंके बीच विरोध जैसा दिखाअी देता है।

जैसे-जैसे हम धर्माधर्मकी बारीकीमें अुतरते हैं, वैसे-वैसे 'किं कर्म किमकर्म' के प्रश्न बार-बार अुठते रहते हैं; और किसी निश्चय पर पहुंचनेका स्पष्ट मापदण्ड न मिलन पर निर्णय करना कठिन हो जाता है। अिसका अेक निर्णय, जैसा श्री साशंकने कहा है, यह है कि अनेक प्रश्न खड़े ही न किये जायं; अेक साध्यसे चिपटे रहें; क्रिया-रीतिके बारेमें निकम्मी खींचतान न करें। बेशक, जो अिस तरह 'येन केन प्रकारेण कार्यं साधयामि' के निर्णय पर अटल रह सकते हैं, अुनके लिअे यह रास्ता स्पष्ट हो जाता है; किन्तु जिन्हें धर्माधर्मका विचार खाजकी तरह चित्तमें खुजली पैदा करता है, वे अिस प्रश्नको अुठाये बिना कैसे रह

सकते हैं? अिस प्रश्नके अुठ जानेके बाद यह कहना निरर्थक है कि 'अैसा परेशान करनेवाला प्रश्न अुठाया ही क्यों गया?'

मतलब यह कि जब प्रश्न अुठ ही गया है, तो अुसका समाधान धर्मयुक्त मार्गसे मिलने पर ही अैसे (भले अुसे भावुक कहें) चित्तको सन्तोष हो सकता है।

अिस संबंधमें मेरा खयाल है कि यदि अेक बातका दृढ़ निश्चय हो जाय, तो धर्माधर्मका निर्णय करनेका मार्ग प्रायः स्पष्ट हो जाता है। मनुष्यता सबसे पहला धर्म है। मनुष्यताका हनन करके न मैं स्वदेश-सेवा करूंगा, न माता-पिताकी सेवा करूंगा, न भारतीयपन बताअूंगा, और न अपना हिन्दुत्व ही बताअूंगा। मनुष्यता किस बातमें है, अिस अुदात्त दृष्टिसे विचार न करके जब हम किसी नीचे दृष्टिबिन्दुसे विचार करते हैं, तब दो विरोधी धर्म या भावनायें पैदा होने जैसा लगता है। अितना तो किसी विशेष परिस्थितिमें हमारा धर्म क्या है, यह निर्णय करनेके विषयमें।

दूसरेके बारेमें निर्णय करनेके लिअे अिस पर दो तरहसे विचार करना पड़ेगा: मनुष्यताकी दृष्टिसे अुसका कर्तव्य कैसा था? और, अुसका अुद्देश्य अेक बार स्वीकार कर लेने पर अुसके कृत्योंको किस दृष्टिसे देखना चाहिये?

अिस संयुक्त दृष्टिसे हम श्री कालिदासभाअीके अुद्धृत किये हुअे तीनों दृष्टान्तोंका विचार करें।

क्लाअिवने अैसे छल-प्रपंच किये, जो मनुष्यको शोभा नहीं दे सकते। और यदि हम मानवताकी पूजा करते हों, तो स्वदेशके लिअे भी हम अैसे अनैतिक काम न करेंगे। मैं समझता हूं कि शिक्षकका यह अुत्तर अुचित था। परन्तु विद्यार्थी मानवताके दृष्टिबिन्दुसे विचार नहीं करता था। अुसने राज्यलोभको अुचित वासना माना था। और अैसा मान कर ही अुसने पूछा था कि 'यदि हम विदेशोंसे व्यापार करें, हमारा राज्य हो और हमारे पीछे सत्ताका बल हो, तो हम भी वैसा ही करेंगे न?' अिसलिअे अुसके दृष्टिबिन्दुको ध्यानमें रखकर हम अुसे यों कह सकते हैं कि 'हां, भाअी, यदि राज्यलोभको हम अेक बार अुचित

वासना मान लें, तो क्लाअिव जैसे ही या अुनसे भी ज्यादा दुष्ट कृत्य हमारे हाथसे भी हो सकते हैं। अिसलिअे क्लाअिवको या राज्यलोभके वश हुअी अंग्रेज प्रजाको दोष देनेकी आवश्यकता नहीं। दोष है राज्य-लोभका। अुनकी दृष्टि मनुष्यता तक नहीं पहुंचती। हमसे हो सके तो हम अपनी दृष्टि मनुष्यता तक पहुंचावें।'

अिसीके साथ शिक्षक स्वराज्यकी वासना और राज्यलोभकी वासनाके बीचका भेद भी विद्यार्थीके सामने स्पष्ट कर सकता है। मेरे घर पर कब्जा रखने और घर चला गया हो तो अुसे फिरसे पानेका प्रयत्न करना अेक बात है, और अपने घरके अलावा मैं पड़ोसीके घरका कब्जा लेनेका प्रयत्न करूं यह दूसरी बात है। राज्यलोभ — दूसरेके घर पर कब्जा करनेका प्रयत्न करना — जड़से ही मनुष्यताके विरुद्ध है; तब अुसके लिअे जो-जो अुपाय किये जायं, अुनमें यदि मनुष्यताका ज्यादासे ज्यादा भंग हो तो कोअी आश्चर्य नहीं। अपने घरका कब्जा लेने या रखनेका प्रयत्न यथार्थमें ही मनुष्यताका विरोधी नहीं है; मनुष्यता (यहां धर्म-नीति) की रक्षा करके भी वह प्रयत्न किया जा सकता है। यदि मेरा मनुष्यताका आग्रह दृढ़ हो, तो मैं मनुष्यताका पालन करके ही वह प्रयत्न करूंगा। यदि वैसा न हो सके तो मैं स्वराज्यका आग्रह भी छोड़ दूंगा। यदि मेरा मनुष्यताका आग्रह स्वराज्यकी वासनाकी तुलनामें निर्बल हो, तो मैं दूसरे अुपाय भी अपनाअूंगा। परन्तु स्वराज्य-लोभ राज्यलोभसे सदा ही अधिक क्षम्य माना जायगा।

दूसरा प्रश्न है हिन्दू-मुस्लिम-अेकताका। श्री साशंकका कहना है कि अितिहासमें अिस अेकताकी विरोधी जो बातें लिखी हुअी हैं — जैसे मंदिर तोड़नेकी, जजियाकी, दूसरे जुल्मोंकी — अुन्हें दबा दिया जाय। विद्यार्थियोंको अुनसे अनभिज्ञ ही रखा जाय। 'यथार्थता' की मूर्ख या अंधी पूजा न की जाय। अिस संबंधमें श्री साशंकने जो दलील दी है, वह अेक दृष्टिसे ठीक है। परन्तु अैसा लगता है कि अुनकी दृष्टि छोटी अुम्रके विद्यार्थियों पर ही है। मार्स्डन या विट्ठलदास पटेलके अितिहासकी आवृत्तियां अिस ढंगसे लिखी जा सकती हैं कि अुनमें धर्मके पुराने झगड़ोंका अुल्लेख ही न रहे। किन्तु मार्स्डन या विट्ठलदास पटेलके अितिहाससे अितिहासकी शिक्षा पूरी नहीं हो जाती। अितिहासके मूलभूत आधारोंका और अुनके आधार पर लिखे हुअे बड़े अितिहासोंका नाश नहीं हो सकता। मूलभूत आधारोंको विद्यार्थी न खोजें, यह आज्ञा नहीं निकाली जा सकती। वह तो अब —

'मुखेथी रे मानवी वेण मूक्युं,
फरीथी ते ते न गळाय थूंक्युं.'*

की तरह अगोप्य हो गया है। और अिस तरह सत्यको छिपानेका मिथ्या-प्रयत्न करना वृथा है। मुझे याद है कि बी० अे० के रसायनशास्त्रके वर्गमें जब पहले दिन मैं गया, तो हमारे अध्यापकने कहा था, 'आपने मैट्रिकमें रसायनशास्त्र पढ़कर जो कल्पनायें बांधी हों, अुन्हें यदि आप भूल न गये हों तो आजसे कृपया भूल जावें।' अुस दिन मुझे बुरा लगा था। मुझे लगा था कि मैट्रिकमें हमारे साथ अितना धोखा क्यों किया गया? भले अेक ही पाठ पढ़ाया गया हो, लेकिन जो पढ़ाया गया वह सच्चा ही क्यों नहीं पढ़ाया गया?' अिसी तरह बड़े अितिहासोंका अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी श्री साशंकसे कहेंगे कि 'हमें हिन्दू-मुसलमानोंके झगड़ों या सूरतकी लूटका ज्ञान न करानेका कारण क्या है?' फिर जैसे आज श्री बसुने अंग्रेजी अितिहासकारों द्वारा छिपाअी हुअी बातोंको चुन-चुनकर प्रकाशमें लाना शुरू किया है, वैसे ही कोअी दूसरा विद्यार्थी क्यों नहीं निकल सकता? अिसलिअे जानी हुअी और प्रस्तुत हकीकतोंको छिपानेका प्रयत्न न करके अुन्हें विद्यार्थियोंके सामने रखकर ही कोअी मार्ग निकालना ठीक है।

सत्य यह है कि 'सद्धर्मकी रक्षा करना राजाका कर्तव्य है' अिस सूत्रको हिन्दुओं और मुसलमानोंने तथा दोनों धर्मोंने स्वीकार किया है। किसे सद्धर्म कहा जाय और किसे अधर्म, अिस सम्बन्धमें हर धर्मके अनुयायी अपने ही प्रसिद्ध शास्त्रोंसे अपनेको बंधा हुआ मानते हैं। जैसे

* हे मानव, मुंहसे वचन निकल गया, सो निकल गया। जो थूक दिया अुसे फिरसे निगला नहीं जा सकता।

अनेक हिन्दू प्रामाणिकतासे यह मानते हैं कि 'अंत्यजको छुआ नहीं जा सकता' मनुस्मृतिके अिस श्लोकको वे ठुकरा नहीं सकते; अुन पर स्व-बुद्धिसे या मानवताके खयालसे पैदा होनेवाली दलीलोंका असर नहीं होता; अुसी प्रकार अनेक मुसलमानोंकी अपने माने हुअे कुछ प्रामाणिक ग्रंथोंके आधार पर अैसी प्रामाणिक मान्यता बन गअी थी — संभव है आज भी हो — कि मूर्तिपूजा अधर्म है, सच्चे अीश्वरका द्रोह है। अिस मान्यताका सीधा परिणाम यह हुआ कि शास्त्रमें श्रद्धा रखनेवाले बादशाहोंने 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय' अपना जन्म हुआ मानकर मंदिर तोड़े, हिन्दुओं पर जजिया कर लगाया, और मूर्तिपूजकोंको अनेक तरहके कष्ट दिये। मनुष्य अपनी बुद्धिको मनुष्यता और शास्त्र दोनोंके विचारोंसे और मनुष्यताके विचारोंको बुद्धिसे तेजस्वी बनानेके बदले यदि स्वबुद्धि और मनुष्यताको शास्त्रके चरणोंमें रखकर ही संतोष माने, तो अुसका शास्त्राध्ययन तेजस्वी और सदैव वर्धमान (ever-growing) न होगा, अुलटे अुसे मनुष्यताके विरुद्ध कर्मोंमें लगावेगा। अिसमें दोष जातियोंकी अबुद्धि — जड़ताका ही माना जायगा। और जब तक यह अबुद्धि या जड़ता कायम रहेगी, तब तक यदि अैसा ही होता रहे तो कोअी आश्चर्य नहीं।

अिसलिअे हिन्दू-मुस्लिम-अेकताके प्रश्नको हल करनेके लिअे मुसलमान बादशाहोंने हिन्दू धर्म और हिन्दूओंके साथ जो व्यवहार किया, अुसे छिपानेसे क्या होगा? परन्तु अिन घटनाओंका ज्ञान देनेके बाद भी हमें कहना चाहिये कि: "मनुष्यतासे भी शास्त्रको बड़ा माननेवाली अबुद्धिका परिणाम देखिये। हिन्दुओंने जब अपने-अपने पंथके शास्त्रोंको मानवतासे अधिक महत्त्वका माना, तब शैवोंने बैष्णवों और वैष्णवोंने शैवोंके सिर फोड़े। मुसलमानोंने जब पंथके शास्त्रोंको मानवतासे बड़ा माना, तब शियाओंने सुन्नियोंके और सुन्नियोंने शियाओं सिर फोड़े, और अभी कुछ ही दिनों पहले अेक नवीन पंथके नेताको मार डाला। अीसाअियोंने जब पंथके मन्तव्योंको मानवतासे अधिक महत्त्व दिया, तब कैथोलिकोंने प्रोटेस्टेण्टोंको और प्रोटेस्टेण्टोंने कैथोलिकोंको जिन्दा जलाया। यदि ये सब शास्त्रोंकी अपेक्षा मनुष्यताको — जीवधर्म, दयाधर्म, प्रेमधर्मको तथा मतके आग्रहको नहीं बल्कि अहिंसाके आग्रहको — स्वीकार करते, तो अिन्हें निश्चित रूपसे समझमें आ जाता कि अिस प्रकारका बरताव किया ही नहीं जा सकता। शास्त्रोंकी दृष्टिसे न देखकर यदि आप मनुष्यताकी दृष्टिसे देखना स्वीकार करें, तो आपको तुरन्त ही समझमें आ जायेगा कि अस्पृश्यताके कारण समाजका अेक अंग अैसा है, जो दुःखी है, दरिद्र है और जिसकी अुन्नतिके सभी मार्ग बन्द हैं। अुन्हें छूनेसे संभव है अुच्च वर्णोंकी मुश्किलें बढ़ जायं, संभव है अुनके कुछ सभ्य और शिष्ट रीति-रिवाजों, शुद्धता आदिका आसानीसे पालन न किया जा सके; लेकिन अिसमें शक नहीं कि अिससे अछूतोंकी सुविधायें तो बढ़ ही जायंगी। और अिस तरह दूसरेका सुख बढ़ानेमें ही मानवता है। अुसी प्रकार मुसलमानोंके शास्त्र भले गोवधको पाप न मानते हों, और हिन्दू शास्त्र दूसरे पशुओंकी अपेक्षा गायको विशेष पवित्र माननेमें भूल करते हों, फिर भी जीवको मारनेकी अपेक्षा अुसकी रक्षा करनेमें किसी भी समय विशेष मानवता है। गायको ही क्यों बचाया जाय, बकरीको क्यों नहीं, यदि यह पूछा जाय तो बकरीको न बचानेमें हमारी मानवताके विकासमें न्यूनता है। परन्तु यदि अुस न्यूनताको यदि हम गोवध करके बढ़ावें तो वह धर्म नहीं है। यदि मैं सत्य बोलनेको धर्म मानता हूं, तो अपने प्राणोंको होम कर भी सत्य बोलनेमें मेरी मनुष्यता है; किन्तु मनुष्यताका धर्म यह नहीं कहता कि मैं दूसरे झूठ बोलनेवालोंको दण्ड दूं। अुसी प्रकार यदि मूर्तिपूजामें मुझे अधर्म मालूम होता हो, तो प्राणोंका खतरा अुत्पन्न होने पर भी मैं मूर्तिके चरण नहीं छुअूंगा। परन्तु जिन्हें अुसके अधर्म होनेके बारेमें विश्वास नहीं है, वे यदि मूर्तिके चरण छुअें तो अुन्हें दण्ड देनेमें मनुष्यता नहीं है।"

ये और अैसे ही दूसरे झगड़ोंका अन्त अिन दो मार्गोंसे हो सकता है: या तो हम केवल शास्त्रोंकी अपेक्षा मनुष्यताकी दृष्टिसे विचार करना सीखें; अथवा यूरोपकी तरह शास्त्र — धर्माधर्म सब कुछ अेक ओर रखकर हम केवल धनलाभ या भौतिक सुखप्राप्तिकी दृष्टिसे ही विचार करना सीखें। मनुष्यत्वकी अुन्नति किस प्रकार होगी, यह निश्चित करना कठिन नहीं है।

अब हम सूरतकी लूटका विचार करें। मैं मानता हूं कि जिस ढंगसे अितिहास पढ़ाया जाता है, अुससे सूरतके विद्यार्थियोंके मनमें शिवाजीके प्रति तिरस्कार पैदा होता है। परंतु अुसमें निष्कारण ही तिलका ताड़ किया जाता है। सत्य क्या है? शिवाजीको स्वराज्यकी स्थापना करनी थी। अुन दिनोंमें सत्याग्रहका विचार भी पैदा नहीं हुआ था, जिससे अहिंसाके रास्ते स्वराज्यकी स्थापना की जाती। शिवाजीने हिंसाका मार्ग अस्वीकार नहीं किया था। स्वराज्य पैसेके बगैर तो स्थापित हो ही नहीं सकता था। अिसलिअे जैसे वनराजने किया या आजके अनार्किस्टोंको करना पड़ता है, अुसी तरह शिवाजीने भी लुटेरोंकी पद्धतिसे अपने प्रयत्नका आरंभ किया। शिवाजीके सामने गुजराती, मराठी, हिन्दू या मुसलमानका प्रश्न नहीं था, जैसे अनार्किस्टोंके सामने बंगाली या मारवाड़ीका प्रश्न नहीं होता। जहां तक हो सके पहले सरकारी — यानी शिवाजीके समयमें बीजापुर आदि दक्षिणके राज्यों या मुगल राज्योंका — खजाना लूटा जाय। अुतनेसे काम न चले तो धनवान शहरोंको लूटा जाय — अर्थात् स्वराज्यके नहीं, बल्कि मुसलमानोंके। अुस समय सूरत बहुत ही समृद्ध शहर था। वह मुसलमानोंका था। अिसलिअे शिवाजीने अुसे लूटा, जैसे अनार्किस्ट मालदार बंगालियोंको कलकत्तेमें लूटते हैं। शिवाजीने गुजरातियोंको या गुजरातियोंके सूरतको लूटा ही न था। अुन्होंने तो मुगलोंके सूरत और मुगल प्रजाको लूटा था। सूरत गुजरातमें था, यह तो अेक संयोग ही माना जायगा। वह कोंकणमें होता तो भी शिवाजी अुसे लूटते। शिवाजीको गुजरातियोंसे दुश्मनी नहीं थी, सूरतसे दुश्मनी नहीं थी; अुनकी तो मुगलोंसे दुश्मनी थी, और अुन्हें पैसेकी जरूरत थी। सूरत मुगल राज्यमें था और अुसमें पैसा था। अिसलिअे सूरत अुन्हें लूटने योग्य मालूम हुआ। अुसमें गुजराती लूटे गये, यह तो अेक अैसी अड़चन थी जो टाली नहीं जा सकती थी। अुसे यदि गुजराती लोग दुश्मनी समझें, तो यह अुनकी भूल ही होगी। यदि बोरसदके बाबरा डाकूमें वनराज या शिवाजी जैसी स्वराज्यकी महत्त्वाकांक्षा होती, नीतिमत्ता होती और अुसका पासा सीधा पड़कर वह स्वराज्यकी स्थापना कर देता, तो क्या खुद बोरसदके लोग ही अभिमानके साथ 'वीर बाबरा' कहकर अुसका नाम नहीं लेते?

हिंसाकी राहसे स्वराज्य स्थापित करनेवालोंको आरंभमें लूट-पाट करनी ही पड़ती है, अैसा मानकर बोरसदके लोग भी अपनी लूटको अुदारतासे भूल जाते और अुसका यशोगान करते।

अिस प्रकार सारी हकीकतें बताते हुअे भी मेरी समझमें तीनों किस्सोंको योग्य दृष्टिसे विद्यार्थियोंके सामने पेश किया जा सकता है।

धर्माधर्मका अपने लिअे निर्णय करनेमें मनुष्यताको ही महत्त्व दें, और दूसरोंके हो चुके व्यवहारके बारेमें अुनके दृष्टिबिन्दुको समझकर विचार करनेका प्रयत्न करें, तो मुझे लगता है कि अैसी कठिनाअियां बहुत-कुछ हल हो सकती हैं।

नवजीवन (केळवणी अंक), २७–९–'२५

६

'पगदंडी' की प्रस्तावना

श्री नानाभाअी भट्टकी पुस्तककी प्रस्तावना मैं अपनी धृष्टता प्रकट करनेके लिअे नहीं लिख रहा हूं, बल्कि अिसलिअे लिख रहा हूं कि मेरे मनमें अुनके प्रति जो आदर है वह प्रकट हो और अुन्होंने जो अिच्छा बताअी है अुसे पूरी करके मुझे आत्म-सन्तोषका अनुभव हो।

श्री नानाभाअीने जब शिक्षाके क्षेत्रमें प्रवेश किया, तब मैं अंग्रेजीकी चौथी या पांचवीं कक्षामें पढ़ता हूंगा। अुन्होंने तो पढ़ते-पढ़ते ही पढ़ाना शुरू कर दिया था और डिग्री मिलनेके पहले ही अपने जीवनका कार्य निश्चित करके अुसमें प्रविष्ट हो गये थे। आज तक वे अुसी कार्यमें लगे हुअे हैं। अुनके परंपरागत संस्कार भी अुस कार्यके अनुकूल थे और योग्य परिस्थितियां भी अुनके लिअे तैयार होती गअीं। वह कार्य अुनकी प्रकृतिके अनुरूप — स्वभाव-नियत था। अुसीको अुन्होंने बुद्धिसे हेतुपूर्वक वरण करके विशेष रूपमें अपनाया और मन, वाणी तथा कर्म तीनोंको अुसमें लगाकर वर्षों तक अुसीका अेकाग्र चिन्तन किया, अुसके लिअे आवश्यक सद्गुण और कुशलतायें प्राप्त कीं, अुस कार्यको चमकाया, अुस क्षेत्रमें

महत्ता प्राप्त की, अपना विकास किया और स्वकर्माचरण द्वारा मनुष्य किस प्रकार श्रेय-साधना कर सकता है, अिसका अुदाहरण दुनियाके सामने पेश किया। साथ ही वे गुजरातमें शिक्षाके नवयुगके प्रवर्तक बने।

जो मनुष्य जीवनभर अेक ही कार्यमें लगा रहेगा, वह अुस क्षेत्रका अनुभवी तो बन ही जायगा। परंतु सभी अनुभवी जागरूक रहकर — स्मृतिपूर्वक अनुभव नहीं लेते। अधिकतर लोग तो अुस कार्यको अपनी सहज आदत बनाकर अुसे अपने चित्तके तंद्रिल भागका अंग बना देते हैं। अपनी अुम्रके आखिरी हिस्सेमें यदि वे अपने अनुभवोंका कोअी भाग किसीसे कहते हैं, तो वह अधिकतर किस्सों और चुटकलोंके रूपमें होता है या अुनकी सफलता-विफलताके परिणामस्वरूप अुस कार्यके संबंधमें अुनका आशावादी या निराशावादी अंतिम सार ही होता है। वे अपने पीछे आनेवालोंके लिअे अुपयोगी सिद्ध हो सकें अैसे दिशासूचक चिह्न बतानेका काम नहीं करते। यह काम तो जागरूक रहकर — स्मृतिपूर्वक काम करनेवाला ही कर सकता है।

अिस पुस्तकमें न तो श्री नानाभाअीके शिक्षकके रूपमें बिताये हुअे लगभग चालीस-पैंतालीस वर्षके जीवनके मनोरंजक किस्से या चुटकलें हैं और न अुन्हें जीवनमें प्राप्त हुअी सफलता-विफलताओंका अन्तिम सारमात्र है। परंतु 'शिक्षा' को जीवन-विज्ञानका अेक विशाल प्रदेश समझकर, अुस प्रदेशके अेक बुद्धिमान और सावधान किसानकी तरह हर क्षेत्रमें कहां किस प्रकारकी जमीन है — कहां मिट्टी है, कहां कंकर हैं, कहां पत्थर हैं, कहां घास है, कहां गोखरू हैं, कहां कांटे हैं, कहां अूंचाअी है, कहां नीचाअी है, कहां सख्त जमीन है, कहां दलदल है, कौनसा हिस्सा किन किन चिह्नोंसे पहचाना जाता है — आदि बातोंकी छानबीन करते-करते जो टिप्पणियां वे लिखते गये हैं, अुन्हींको यहां प्रकाशित किया गया है। जो भी मनुष्य शिक्षाके प्रदेशमें काम करेगा, फिर वह अुसे अुदर-निर्वाहके धंधेके रूपमें अपनाये, या वह धन्धा करनेवालोंको काम देकर अुनसे काम लेनेवाला मालिक (डिरेक्टर) बने, या अन्वेषणकर्ता वैज्ञानिक बने, अुसे अिस प्रदेशके किसी-न-किसी क्षेत्रका सामना करना ही होगा। अैसे सब लोगोंके लिअे ये टिप्पणियां अभी कअी वर्षों तक अुपयोगी सिद्ध होंगी।

ये टिप्पणियां चालीससे भी अधिक वर्षोंमें अुन्हें जो अनुभव हुआ है अुस पर आजकी दृष्टिसे विचार करके नहीं लिखी गअी हैं। परंतु जैसे अेक शोधक अपनी प्रयोगशालामें रोज जो प्रयोग करता है या अपनी निगरानीमें होते देखता है अुनकी डायरी रखता है तथा अुन प्रयोगोंके संबंधमें अुस दिनके अपने विचार लिखता है, जिनमें अनुभवसे सच्ची मालूम हुअी और बादमें गलत सिद्ध हुअी अुसकी आजमाअिशें और विचारमाला भी रहती हैं, अुसी प्रकारकी ये टिप्पणियां हैं।

बादमें गलत साबित होनेवाली टिप्पणियां भी दो प्रकारकी होती हैं। जिन्हें हम जीवनकी भूलें कहते हैं, अुनमें कुछ तो अैसी होती हैं जो बादमें विचार करने पर भले भूल मालूम हों, परंतु यह दिखानेवाली होती हैं कि जिन परिस्थितियोंमें वे कार्य हुअे थे अुनमें वैसा किये बिना चल ही नहीं सकता था, अथवा जीवनके अुतने ही अनुभव और विकासकी स्थितिमें वैसा ही होना संभव था। अैसी भूलें अेक रीतिसे भूलें नहीं, बल्कि विकासकी भूमिका ही होती हैं। अुस भूमिकामें अुठाया गया कदम आगेकी दृष्टिसे सच्चा न होने पर भी अनिवार्य जैसा होता है। दूसरा प्रकार सच्ची भूलोंका होता है। पाठक अुन्हें भूलके रूपमें समझ ही लेता है। लेकिन चूंकि वैसी भूलें बार-बार होनेकी संभावना रहती है, अिसलिअे अुनकी टिप्पणियां दूसरोंके लिअे संकेतरूप बनती हैं।

अिस प्रकार शिक्षाके प्रदेशमें श्री नानाभाअी जिन-जिन पगदण्डियोंसे होकर गुजरे हैं अुन पर तथा श्री नानाभाअी, अुनके साथियों तथा समकालीन लोगों द्वारा बनी हुअी पगदण्डियों पर श्री नानाभीअीने जो चिह्न देखे हैं, अुनकी अिस पुस्तकमें नोंध है। यों अिस पुस्तकको 'केळवणीनी पगदण्डी' (शिक्षाकी पगडण्डी) का जो नाम दिया गया है वह सार्थक ही है।

अपना कथन समाप्त करनेसे पहले श्री नानाभाअीकी अेक साहित्य-सेवाका भी अुल्लेख कर दूं। हमारे देशके विद्वानोंमें यह फैशन हो गअी है कि किसी प्रचलित शब्दके यथार्थ होने पर भी अुसे अिसलिअे अशिष्ट बताया जाता है कि वह रूढ़ हो गया है, और अुसकी जगह कोअी नया शब्द गढ़ा जाता है। अेक समय बालकोंको पढ़ानेवाले शिक्षकके लिअे 'पण्डित'

(गुजरातीमें 'पंड्या' और मराठीमें 'पंत') नाम आदरसूचक माना जाता था। फिर जब पंडित, पंड्या और पन्त शब्दोंके लिअे विशेष आदरकी भावना पैदा करनेकी आवश्यकता हुअी, तो अुनमें 'जी' मिलाया गया। अिसके बाद मुसलमान कालमें देशी विद्या पढ़ानेवालोंके लिअे अुपयोग किये जानेवाले अिन देशी शब्दोंकी अपेक्षा अरबी-फारसी पढ़ानेवालोंके लिअे बरते जानेवाले 'मेहता' तथा 'मुनशी' शब्द अधिक आदरसूचक माने गये। अिस प्रकार पण्डित और पण्ड्या 'मेहता' या 'मुनशी' बनने लगे। आगे चलकर अुन्हें भी विशेष आधारकी जरूरत पड़ने पर 'जी' का सहारा दिया गया। यों 'मेहताजी' और 'मुनशीजी' सामान्य नाम बन गये। अिसके बाद आया अंग्रेजोंका जमाना। अुनकी शालाओंमें तो 'मास्टर' ही हो सकते हैं! अिसलिअे मेहताजी कहलानेकी अपेक्षा मास्टर कहलानेमें लोगोंको विशेष अिज्जत मालूम हुअी। अितने पर भी कठिनाअी दूर न हुअी। क्योंकि मास्टर तो वही कहा जायगा, जो प्राथमिक या माध्यमिक शिक्षा देता है। कॉलेजमें पढ़ानेवालेको 'मास्टर' कहना सभ्यता नहीं मानी जा सकती। वहांका पढ़ानेवाला तो 'प्रोफेसर' कहा जायगा।

फिर आया राष्ट्रीय जागृतिका जमाना। अिसलिअे हम अंग्रेजी शब्दोंको छोड़कर संस्कृत व फारसीकी ओर मुड़े। मास्टर-टीचरका अनुवाद हुआ 'शिक्षक', 'प्रोफेसर' का 'अध्यापक' (महाराष्ट्रमें आचार्य) और प्रिन्सिपालका 'आचार्य' (महाराष्ट्रमें मुख्य आचार्य)। और 'मेहताजी' तथा 'पंतजी' तुच्छता बतलानेके लिअे अुपयोग किये जानेवाले शब्द बन गये। जमाना और आगे बढ़ा। देशमें राष्ट्रीय शिक्षा फैली। अेक लकीरको मिटाये बगैर छोटी करना हो तो अुसके पास दूसरी बड़ी लकीर खींचनी चाहिये, अिस न्यायसे अध्यापक शब्दने शिक्षक शब्दमें छोटापन ला दिया। शिक्षक शब्द छोड़कर सभीको अध्यापक (या आचार्य) कहनेका युग आरंभ हुआ। परंतु प्रोफेसरोंकी अिस प्रकार अवगणना कैसे हो सकती थी? अुन्होंने नअी युक्ति निकाली। वे अध्यापक न रहकर 'प्राध्यापक' या 'प्राचार्य' बन गये!

गुजरातने कअी वर्षों तक जिन्हें शामळदास कॉलेजके प्रोफेसर 'नृसिंहप्रसाद कालिदास भट्ट' के नामसे और बादमें दक्षिणामूर्ति विद्यार्थी-भवनके

आचार्य 'नृसिंहप्रसाद अुर्फ नानाभाअी भट्ट' के नामसे पहचाना है, अुन्होंने आंबलाकी ग्राम-दक्षिणामूर्ति शालाके 'मेहताजी नानाभाअी भट्ट' के नामसे अपना परिचय देकर शब्दोंके अितिहासमें 'शाला' तथा 'मेहताजी' जैसे शब्दोंको पुनः प्रतिष्ठित किया है।

जहां तहां अूंच-नीचका भेद बतलानेवाली श्रेणियां खड़ी किये बिना हमें चैन ही नहीं पड़ता! अूंच-नीच समझनेके लिअे जब दूसरा कोअी निमित्त हाथ नहीं लगता, तो हम केवल शब्द बदलकर ही काल्पनिक अूंच-नीचपन खड़ा कर देते हैं! अुसमें हम साहित्य और शब्दोंका विकास मानते हैं। किन्तु वास्तवमें हम अितना ही करते हैं कि तत्त्वतः अेक ही काम करनेवाले लोगोंमें कम-ज्यादा प्रतिष्ठाके कृत्रिम भेद निर्माण करके अुनमें अीर्ष्याके बीज बोते हैं। श्री नानाभाअीने अिस रूढ़िको तोड़कर समाजकी अेक बड़ी सेवा की है।

'कोडियुं', जून १९४६

शिक्षामें विवेक

तीसरा भाग

प्रश्न-चर्चा

१

विविध प्रश्न

[जो प्रश्न अुत्तरों परसे ही समझमें आ सकते हैं, अुन्हें अलगसे यहां नहीं दिया गया है।]

१. जो शिक्षक सदा विद्यार्थी न रहे, वह सफल शिक्षक हो ही नहीं सकता। अिस बातमें वकील और शिक्षक समान हैं। अैसा अेक भी विषय नहीं है, जिसका ज्ञान अुसे अपने धंधेमें अुपयोगी न हो। कानूनमें प्रतिदिन जो फेरबदल होते हैं, बड़ी अदालतें जो नये-नये निर्णय देती हैं, अुनसे वकीलको सदा परिचित रहना पड़ता है। अुसी तरह शिक्षकको भी सदा ही शोधक रहना चाहिये। जो शिक्षक केवल पाठ्यपुस्तकें पढ़ा देता है, वह तो शिक्षाका यंत्रमात्र है। आजकल अधिकतर अैसा ही यांत्रिक शिक्षण चलता है। वह शिक्षकोंको सरल मालूम होता होगा; विद्यार्थियोंको परीक्षा पास करनेमें भी सुविधाजनक रहता होगा; परंतु अुससे न तो शिक्षककी प्रगति होती है और न विद्यार्थियोंकी। पाठ्यपुस्तकें धीरे-धीरे तो बनेंगी ही। आपका पहला दल है। आप अपने अनुभवसे अुन्हें तैयार करनेमें योग दें। परंतु पाठ्यपुस्तकोंके बिना शिक्षाकी गाड़ी रुक जायगी, अैसी लाचारी न मालूम होनी चाहिये।

२. अेक शिक्षकको अेक साथ अनेक वर्ग चलाने पड़ें, यह स्थिति अच्छी तो हरगिज नहीं कही जा सकती। यह पद्धति आर्थिक असुविधाके कारण ही चलती है। विद्यार्थियोंकी संख्या कम हो तब भी यह रास्ता अपनाना पड़ता है। परंतु यह सब हमारी दरिद्रताको प्रकट करता है। अिसमें पद्धतिका शास्त्रीय समर्थन नहीं है।

परंतु अिस कठिनाअीको हल करनेके लिअे मैं बड़े विद्यार्थियोंका छोटे विद्यार्थियोंके शिक्षकके रूपमें अुपयोग करना अधिक पसंद करूंगा। काफी शिक्षक होने पर भी मैं तो कहूंगा कि होशियार बड़े विद्यार्थियोंको कुछ न कुछ शिक्षाका काम सौंपना चाहिये। अिससे संबंधित थोड़ा

पाठ्यक्रम भी अुनके वर्गमें रखा जा सकता है। अिससे पढ़ानेवाले विद्यार्थीकी शक्ति बढ़ती है, अुसका अपना ज्ञान पक्का होता है, और बहुत बार यह भी अनुभव होता है कि बालक बड़े शिक्षकके समझानेसे जो नहीं समझता, वह विद्यार्थीके समझानेसे ज्यादा अच्छी तरह समझ जाता है।

आधे दिनकी शाला (शिफ्ट) की पद्धति भी व्यवस्थाकी असुविधा और समय तथा जगहकी किफायतकी दृष्टिसे ही जारी हुअी है। स्थानीय परिस्थिति जाने बिना अिस पर मैं टीका नहीं कर सकूंगा। परंतु विद्यार्थी-शिक्षककी पद्धतिमें मेरा जरूर विश्वास है।

३. प्र० — हमारे यहां मुसलमान विद्यार्थियोंको दो घंटे अनिवार्य रूपमें अरबी सीखनी पड़ती है। अुनके लिअे अिस पढ़ाअीके लिअे आवश्यक समय कैसे निकाला जा सकता है?

अु० — अिसका अुत्तर मैं नहीं दे सकता। सरकार और जिनकी मांग पर अरबीका शिक्षण शुरू किया गया है वे लोग अिस पर विचार करके जो निर्णय करें अुसीके अनुसार चला जाय।

४. अिसमें शक नहीं कि कताअीका आरंभ चरखेसे नहीं, तकलीसे होना चाहिये। शिक्षाशास्त्र और व्यावहारिक सुविधा दोनोंकी दृष्टिसे बालकोंके लिअे तकली ही पहली सीढ़ी है। बालकोंको तकलीमें आनन्द आता है। वह फिरकनी और भौंरेकी बहन है। चरखेकी अपेक्षा तकली पर आसानीसे हाथ जम जाता है। और जिसका तकली पर हाथ जम जाता है अुसके लिअे चरखे पर हाथ जमाना बांये हाथका खेल है। लेकिन चरखे पर हाथ बैठ जानेके बाद तकली पर हाथ बैठाना अितना आसान नहीं है, क्योंकि अुसमें जबरदस्ती मन लगाना पड़ता है। व्यवहारकी दृष्टिसे देखें तो सबको चरखे देना और अुतनी जगहकी व्यवस्था करना कठिन है। अिसके अलावा, छोटे बालकोंको चरखे तैयार करके देने पड़ेंगे। माल टूटे या बिगड़े तब अुसे सुधारनेके लिअे बालकोंको दूसरेकी मदद चाहिये। यानी वे परावलंबी रहेंगे। तकली तो वे स्वयं भी बना सकते हैं। वैसा करनेमें अुन्हें खेल और काम दोनों मिलेंगे। दो कामोंके बीचके समयमें खेतमें, घरमें, सभामें जहां भी चाहो तकली चलाअी जा सकती है। यदि शिक्षक पांच मिनटके लिअे बाहर जाय, तो अुतनी देरके

लिअे चरखा खोल कर चलानेका बालकोंका मन नहीं होगा। लेकिन तकली तो वे तुरंत ही निकाल कर चलाने लगेंगे।

अिसके अलावा, अिस प्रश्नके पीछे यह विचार मालूम होता है कि तकली कुछ दिनके लिअे है और चरखा हमेशा रखनेकी चीज है। यह भूल है। तकली और चरखा दोनों खादीमें कार्यसाधक हैं और दोनोंका अुसमें सदाका स्थान है। वस्त्र-स्वावलंबनके लिअे चरखेका ही होना जरूरी नहीं है। मजदूरी पर कातनेवालेके लिअे चरखा अनिवार्य माना जायगा। लेकिन अुसमें तो शायद वर्तमान चरखेका स्थान मगन चरखा ले सकता है। सादे चरखेके और मगन चरखेके अुत्पादनमें बड़ा फर्क तो रहेगा ही। अुसी प्रकार तकली और चरखेके बीच भी रहेगा। फिर भी, तकलीकी जो गति आज सिद्ध हुअी है वह अितनी तो है कि अुसे वस्त्रोत्पादक यंत्रके रूपमें तुच्छ नहीं कहा जा सकता। तकलीका कुशल कतवैया चरखेके साधारण कतवैयेको स्पर्धामें हरा सकता है। विनोबा तकलीको जो वस्त्रपूर्णा कहते हैं, वह कोअी अुनका तकलीके लिअे पागलपनकी हद तक पहुंचा हुआ अुत्साह नहीं है, बल्कि अेक गणितशास्त्री और शिक्षाशास्त्रीके अनुभवोंका निचोड़ है।

हमारी शिक्षाका अेक दोष यह है कि हम दाहिने हाथसे या बायें हाथसे काम करनेवाले बन जाते हैं। वह हममें दोनों हाथोंसे काम करनेकी आदत नहीं डालती। यह दोष तकलीको दोनों हाथोंसे चलानेका अभ्यास करनेसे दूर हो जायगा। तकली पर गुजरातने पूरा ध्यान नहीं दिया, यह मुझे ठीक नहीं मालूम होता।

तकलीको जांघ पर घुमानेमें जांघको खुला रखना पड़ता है। वह कुछ लोगोंको सभ्यताकी दृष्टिसे अच्छा नहीं लगता, अैसा मैंने सुना है। यह तरीका अनिवार्य तो नहीं है, परंतु यदि अनिवार्य भी हो तो क्या? जिस देशमें गरीबीके कारण चौबीसों घण्टे जांघ खुली रखकर स्त्री-पुरुष दोनोंको जीवन बिताना पड़ता है, वहां यदि कताअीके समय चड्डी या धोती अूंची चढ़ानी पड़े, तो अुसमें शर्म किस बातकी? व्यायामशालामें हम क्या करते हैं? तैरनेके समय हम क्या करते हैं? अिससे यही मालूम होता है कि अभी हमारी दृष्टि देहातकी ओर नहीं मुड़ी है। हमें अभी

अपने आसपास सफेदपोश वर्ग ही घिरा दिखाओ देता है। लेकिन सूरत जिलेमें तो सफेदपोश वर्गोंकी स्त्रियां भी कछौटा लगाकर समाजमें घूमती-फिरती हैं। सभ्यताके अैसे गलत खयाल हमें छोड़ देने चाहिये।

५. अुद्योगके समयमें हमें काम पर ही ध्यान रखना चाहिये। अिसमें शक नहीं कि अुस समय दूसरे विषय पढ़ानेका लोभ रखनेसे काम बिगड़ता है या अुद्योगकी गति कम होती है। परंतु अुद्योगसे संबंध रखनेवाली बातें या बहुतेरी जानकारी अुसी समय बतलाओ जा सकती है। जाकिर-हुसेन कमेटीने कहा है कि अुद्योगसे संबंधित शास्त्र अुद्योगके समय ही सिखाया जाय। यह तो स्पष्ट है कि अिससे प्रत्यक्ष कामका समय अुतना कम होगा। अुद्योगके कुछ काम अैसे अवश्य होते हैं, जिनके साथ याद किये हुअे गीत, कविता वगैरा चलाये जा सकते हैं। कोओी काम अैसा न होना चाहिये, जिसमें अुद्योगके कामसे आंख हटानी पड़े। अमुक समय तो केवल मौन रखनेका ही नियम होना चाहिये।

६. अैसा नहीं हो सकता कि कांग्रेसी सरकार राष्ट्रीय साहित्य स्कूलमें न आने दे। अुसकी मांग कीजिये।

७. शालामें सजा — यानी छड़ी या तमाचे मारना, चिमटी भरना, अंगूठे पकड़वाना वगैरा — की मनाही होनी चाहिये। यह हो सकता है कि किसी लड़केको सुधारनेकी शिक्षकोंमें ताकत न हो। अुसे शालासे निकाल देनेका प्रसंग भी आ सकता है। लेकिन सजाका रास्ता अख्तियार करना अुचित नहीं है।

८. बालकको घरके लिअे अभ्यास देना मैं कुछ अंशमें आवश्यक मानता हूं। अुसे स्वाध्यायकी आदत पड़नी चाहिये। अलबत्ता, बालकके सारे बोझका ध्यान रखकर ही यह होना चाहिये। बालकने घर पर अभ्यास किया या नहीं, अैसी माता-पिताकी चिट्ठी अुससे मांगनेका तरीका ठीक नहीं है। अुसमें अुसे झूठ ही बोलना पड़ता है।

९. बुनियादी शिक्षाका अभ्यासक्रम आसान है या कम है, यह कहना ठीक नहीं है। वह लगभग अंग्रेजी-रहित मैट्रिकके बराबर है। अुलटे, संभावना यह है कि वह सात वर्षमें पूरा न किया जा सके। अतः

अुसे पूरा करनेके लिअे यदि अवधि बढ़ानी पड़े, सातके बदले आठ या नौ वर्ष करने पड़ें, तो अुसमें मुझे कोओी आपत्ति नहीं मालूम होती।

१०. बुनियादी शिक्षा जहां समाप्त होगी, वहांसे माध्यमिक शिक्षाके पाठ्यक्रमके बारेमें विचार करना होगा। माध्यमिक शिक्षा यहांसे आरंभ होनी चाहिये, अैसा पहलेसे निश्चित करके बुनियादी शिक्षाको वहां तक लानेका यह अुलटा तरीका कैसे चल सकता है? लाखों बालकोंको सात वर्ष तक पढ़नेके बाद संसारमें प्रवेश करना होगा। अुनके लिअे किस प्रकारकी और कितनी शिक्षा अनिवार्य और संभव है, अिसका विचार करके जो पाठ्यक्रम बनाया जाय वह बुनियादी शिक्षा है। जिन्हें आगे पढ़ना हो वे वहांसे आगे बढ़ें, और अुनकी शिक्षाकी योजना बनानेवाले यह ध्यानमें रखकर अुनका पाठ्यक्रम तैयार करें कि वे कितना पढ़कर आये हैं।

११. सारी प्रजाके बालकोंको छात्रालयोंमें नहीं रखा जा सकता। यह अिष्ट भी नहीं है। अुत्साही और अच्छे शिक्षक अितना कर सकते हैं कि अमुक समयको छोड़कर शेष समय विद्यार्थी शालामें रहें; वहीं सोयें। परंतु अैसा अनिवार्य कर देनेसे लाभ नहीं होगा। अिसके विपरीत, अैसा नियम बनाना भी आवश्यक हो सकता है कि बालकोंको रहने-सोनेके लिअे शालामें बुलानेके पहले शिक्षकको अिजाजत लेनी चाहिये। क्योंकि खेदजनक सत्य यह है कि कभी-कभी शिक्षक बालकोंको कुमार्ग पर भी ले जाते हैं। अिससे शिक्षकको अैसी अिजाजत देनेके पहले जांच-पड़ताल करना जरूरी होगा।

१२. धार्मिक शिक्षाके बारेमें 'हरिजनबंधु' में जो लेख छप चुके हैं वे आप देख लें। धार्मिक वृत्ति शिक्षकके जीवनसे पैदा होती है। अुसमें प्रार्थनाका स्थान है। परंतु प्रार्थना धार्मिक वृत्तिसे हो तो ही। प्रार्थना अैसी रखी जाय जो सभी समझदार आदमियोंको मान्य हो। जिन्हें धर्मके नाम पर झगड़े ही करने हों, अुन्हें संतुष्ट नहीं किया जा सकता। भिन्न-भिन्न त्यौहार मनानेसे भिन्न-भिन्न धर्मोंके बालकोंको अपने धर्मकी खास-खास विशेषतायें जाननेको मिलती हैं। अिसमें शिक्षक अुदार वृत्तिवाला और सब धर्मोंके प्रति आदरभाव रखनेवाला होना चाहिये।

तभी वह विद्यार्थियोंमें सच्ची धार्मिक वृत्तिका विकास कर सकेगा। नहीं तो वह अुनमें संकुचित धार्मिक अहंकार बढ़ायेगा।

१३. सांप्रदायिक झगड़ोंकी अपेक्षा ग्रामशिक्षकके सामने दलबन्दीके झगड़ोंका प्रश्न विशेष महत्त्व रखता है। शिक्षक किसी अेक दलमें मिल जाता है और फिर या तो वह अुस दलका शकुनि बनता है या अुसके हाथका खिलौना। अिसमें से कभी कभी वह दो दलोंको लड़ाकर या अुनके बीच समझौता करानेवाला मध्यस्थ बनकर अपनी कमाअी बढ़ाता है। शिक्षकको किसी झगड़ेमें तभी हाथ डालना चाहिये, जब वह दोनों दलोंमें समाधान करा सके; नहीं तो अुसे दोनों दलोंसे अलग ही रहना चाहिये।

१४. व्यसनी शिक्षक विद्यार्थियोंके व्यसन नहीं छुड़ा सकता, सिर्फ अुन्हें सावधान कर सकता है। व्यसन न छोड़ सकनेवाला शिक्षक भी अपनी निर्बलता बतलाकर विद्यार्थियोंको अुपदेश दे। अुसमें अुसे कितनी सफलता मिलेगी यह नहीं कहा जा सकता।

१५. जिस गांवमें बुनियादी शिक्षा दाखिल हो गअी हो, अुस गांवका कोअी आदमी यदि अपने बालकको पुरानी शिक्षा ही देना चाहता हो, तो जहां पुरानी पद्धतिकी शाला हो वहीं अुसे अपने लड़केको भेजना होगा। जब तक दोनों तरहकी शालायें चलती होंगी तभी तक अैसा हो सकेगा। वातावरणको अनुकूल बनानेका काम कांग्रेस-समितियोंका भी है। वे आपकी सहायता जरूर करेंगी, अैसी अपेक्षा रखनेका आपको अधिकार है।

१६. प्रतिस्पर्धा और पारितोषिकको जितना कम स्थान दिया जाय अुतना ही अच्छा होगा। लेकिन अिसमें शंका है कि अिन्हें सजा जितना ही बुरा कहा जा सकता है या नहीं। लालच पैदा करनेके लिअे नहीं, बल्कि कद्र बतलानेके लिअे पारितोषिक जैसी चीजका कुछ स्थान हो सकता है। अुत्साह बढ़ानेकी दृष्टिसे भी प्रतिस्पर्धायें रखी जा सकती हैं। जैसे खेलोंमें होता है, वैसे काममें भी हो सकता है। पारितोषिक देनेमें विवेक होना चाहिये। कद्रके रूपमें केवल धन्यवादका पत्र भी दिया जा सकता है, और जहां गरीबी हो वहां अुपयोगी साधन भी दिये जा सकते हैं।

१७. प्र० — वर्धा-योजनावाली शालाकी सफलताका मापदण्ड क्या हो?

अु० — अुसमें अुद्योग और शिक्षा दोनोंकी छूत लगेगी। बालकको जो बातें शालामें करनी या पढ़नी होंगी, अुन्हें वह घर और पड़ोसियों तक पहुंचावेगा। यानी चरखेका प्रवेश अुसके गांवमें भी होगा। शालामें हुअी पढ़ाअी अुसके दादा-दादीको भी मिलेगी। बुनियादी शालाका बालक दादी मांसे जो बातें सुनेगा, अुनके बदलेमें अुन्हें शालाकी बातें सिखाने लगेगा। जो सफाअी सालामें रखनी या करनी होती है, वही सफाअी वह अपने घरमें भी करेगा। गांवमें अुद्योग बढ़ेंगे; स्वावलंबन बढ़ेगा; गांवके खर्चकी अपेक्षा आय अधिक बढ़ेगी।

शाला छोड़ते समय विद्यार्थीमें अितना आत्म-विश्वास आ जाना चाहिये कि अब वह दुनियामें अपने पांव पर खड़ा रहकर जीवन बिता सकेगा। यदि अुसे ज्यादा पढ़नेकी अिच्छा होगी, तो अुसमें अपने बल पर बड़े विद्यालयमें भरती होनेका साहस होगा। अिसके अलावा अुसकी नागरिक वृत्तिका अच्छी तरह विकास हुआ होना चाहिये। नागरिक वृत्ति यानी जिस मानव-समाजका वह अंग है अुस समाजके प्रति अपने सब धर्मोंका भलीभांति पालन करनेकी वृत्ति। अिसके मूलमें हिंसक संस्कृतिकी जगह अहिंसक संस्कृति पैदा करनेकी भावना है। हमें अैसी संस्कृति पैदा करनी है, जिसमें बहुतोंके हितोंका हनन करके कुछ ही वर्गोंमें ज्ञान, कला और वैभवकी वृद्धि करनेकी अपेक्षा सभी वर्गोंमें अुनका प्रचार हो और अूंच-नीचकी भावनाकी जगह सबमें समताकी भावनाका विकास हो। यह लक्ष्य जितने अंशोंमें सिद्ध होगा, अुतने ही अंशोंमें बुनियादी शिक्षा सफल हुअी मानी जायगी।

हरिजनबन्धु, १६–४–'३९

२

विद्यार्थी-जीवनकी दुरवस्था *

प्र० — आजका विद्यार्थी-जीवन छिन्न-भिन्न और विकृत हो गया है। आपकी रायमें अुसके कारण और अुपाय क्या हैं?

अु० — प्रश्न परसे मुझे मान लेना चाहिये कि यह प्रश्न पूछनेवाले विद्यार्थी अैसा समझते हैं कि अुनका जीवन छिन्न-भिन्न हो गया है। शायद आपमें सभी अिस खयालके न हों, कुछ लोग ही होंगे। कुछ हद तक यह बात सच भी है। आज न केवल विद्यार्थियोंका जीवन छिन्न-भिन्न हो गया है, बल्कि सारे हिन्दुस्तानका जीवन छिन्न-भिन्न हो गया है। संसारमें अनेक नये अन्वेषण हो रहे हैं, फिर भी अशांति और जुल्म बढ़ते जा रहे हैं। हमारे देशमें हमारा समाज और जीवन जो छिन्न-भिन्न हो गया है अुसका कारण स्पष्ट है; और वह है हमारी पराधीनता। यह पराधीनता अिसलिअे आअी है कि हमने सच्चे धर्मका नाश कर दिया है। सच्चे धर्मके नाशसे सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक सभी तरहसे हमारी अवनति हो गअी है और हमारा जीवन अव्यवस्थित हो गया है। राजनीतिक अवनतिसे परतंत्रता आअी और अुसके बाद अनेक अनर्थोंकी परंपरा चली आअी है। अिस स्थितिसे मुक्त होनेके लिअे हमें जहांसे धर्मका ह्रास आरंभ हुआ है वहीं पहुंचना होगा। अर्थात् धर्मका संशोधन करना होगा। धर्मके संशोधनसे हमारे समाज और जीवनका शोधन होगा। मैं यहां धर्म शब्दका अुपयोग 'रिलिजन' के अर्थमें नहीं, बल्कि अधिक विशाल अर्थमें कर रहा हूं। धर्मका अर्थ वह वस्तु या वह जीवन-व्यवस्था है, जो मानव-समाजको अेक विशाल कुटुम्बमें अेकत्रित कर देती है, अुसमें

* रविवार, ता० २९ नवम्बर, १९३६ को शामके चार बजे विद्यार्थी-संघके आश्रयमें गुजरात विद्यापीठमें हुअी प्रश्नोत्तरी : प्रकरण २ से ६ तक।

विशालताकी भावना पैदा करती है। यही धर्मका लक्षण है। संकुचितता धर्मका लक्षण नहीं कही जा सकती। जो धर्म मनुष्यमें संकुचितता पैदा करे और समाजकी अैसी रचना करे जिससे मनुष्य-मनुष्यमें भेद पैदा हो, मनुष्यका व्यक्तित्व भी वैसा ही बन जाय, वह धर्म नहीं बल्कि धर्मका आभास मात्र है। मेरे विचारसे हिन्दुस्तानमें हमने धर्मके बारेमें खूब विचार किया है, तत्वज्ञानमें भी हम खूब गहरे अुतरे हैं, फिर भी अिन सबके कारण हम व्यक्तिवादी बन गये हैं। हमारी हरअेक प्रवृत्तिका ध्येय, फिर वह आध्यात्मिक प्रवृत्ति हो या आर्थिक, व्यक्तिगत लाभ हो गया है। मोक्षका विचार भी हम खुद अपने लिअे ही करते हैं। 'आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत्' में भी हम स्वार्थसे ही प्रेरित होते हैं। अिस प्रकार धर्मका ध्येय व्यक्तिगत हो जानेसे धर्म संकुचित हो गया। अिससे समभावका, जो धर्मकी आत्मा है, विस्तार होनेके बदले विषमता पैदा करनेवाली धर्म-परम्परा आरंभ हो गअी। अिसका सीधा परिणाम यह निकला कि समाज और राज्य-व्यवस्थामें सच्ची वस्तुका ह्रास होता गया और सड़ांध पैदा हो गअी। अिस अवनत दशामें से निकलकर पुनः अुन्नति करनेके लिअे व्यक्तिगत नहीं, बल्कि सामूहिक जीवन बितानेकी हमें आदत डालनी चाहिये।

परंतु यह तो सारे समाजकी सामान्य बात हुअी। विद्यार्थियोंका जीवन छिन्न-भिन्न होता जा रहा है, अुसकी जड़में विचार करने जैसी अेक दूसरी चीज है। आज विद्यार्थी जिनसे संस्कार ग्रहण करते हैं, वे अुनके गुरु हैं। विद्यार्थियोंके गुरु आज कौन हैं, अिसका निरीक्षण करने पर मुझे दो गुरु दिखाअी दिये हैं : अेक तो पश्चिमके लेखक और दूसरे नाटक-सिनेमाके नट-नटी। आजके बहुतेरे रीति-रिवाज सिनेमासे ही सीखे जाते हैं। आजके शरीर-मंडन और सामाजिक स्वतंत्रता तथा मर्यादाकी बातें रंगभूमिसे ही ग्रहण की जाती हैं। हमारे जमानेमें भी यह था, परंतु अुस समय रंगभूमिका अितना विकास नहीं हुआ था। आज तो वह बहुत ही आगे बढ़ गअी है। अिसके अलावा, अुसका पोषण करनेवाली फिलसूफी और साहित्यका प्रवाह भी बहता ही जा रहा है। विशेष ध्यान देने जैसी बात तो यह है कि विद्यार्थीके आसपासकी सारी प्रवृत्तियां अुस पर

अैसे संस्कार डालती हैं कि बचपनसे ही भोगके प्रति अुसकी अभिरुचि बढ़े। अुद्योग-युगका जो भी विकास हो रहा है, अुस सबकी जड़में यह मान्यता है कि मनुष्यका सर्जन भोग भोगनेके लिअे ही हुआ है। धर्म-ग्रंथोंमें लिखा है कि अीश्वरने सब कुछ रचकर मनुष्यको सौंप दिया है, अिसलिअे मनुष्यने मान लिया कि यह सब अुसके अुपभोगके लिअे है। यह मान्यता किसे रोचक न लगेगी? मनुष्यको रोचक लगी, अिसलिअे अुसे यह मान्यता पसन्द आअी।

अतः वस्तुस्थिति यह है कि जो मुंहसे त्यागकी बातें करते हैं, अुनका जीवन भी भोगकी तरफ खिंच रहा है। मनुष्यका निश्चय-बल और संयम-शक्ति अितनी घट गअी है कि संयममें स्थिर रहनेकी अपेक्षा भोगमें फिसलनेकी तरफ अुसका मन अुसे खींच ले जाता है। शाला-महाशालाओंमें खूब पढ़नेके बाद भी यही स्थिति रहती है, अिसलिअे वह चुपचाप अुस परिणामको सहन करता है। अिसलिअे जब भोग अुस पर आक्रमण करता है, तो मन निर्बल होनेसे अुसके सामने वह हार जाता है। अिस स्थितिसे छूटनेके लिअे अिस प्रकारकी संस्कार-प्राप्तिसे ही छूटना चाहिये। किन्तु वह कठिन मालूम होता है, क्योंकि हमारी रोटीके लिअे भी हमें यह शिक्षा लेनी ही पड़ती है।

दूसरी ओर विद्यार्थी पश्चिमके समृद्ध देशोंकी जीवन-पद्धतिका अनुकरण करनेका प्रयत्न करते हैं। गरीब आदमी धनवानकी नकल करता है, तो वह अपनी सादी-सी झोंपड़ी भी खो देता है और अुसे महल भी नहीं मिलता। पश्चिमके समृद्ध देशोंने भोगका जीवन बितानेके लिअे अितने साधन और सुविधायें पैदा की हैं कि अुनके कारण अुनकी शारीरिक शक्ति और भोगशक्ति टिकी रहती है। लेकिन अिस भोगमय जीवनकी छूत जब फैशनके रूपमें गरीबको लगती है तब वह अुससे बच नहीं सकता। अमीरको क्षय हो जाय तो वह चाहे जैसे साधन जुटाकर अुससे बच सकता है; परंतु यदि गरीब अुसका अनुकरण करके क्षयका शिकार हो जाय तो अुसे मरना ही होगा। अिस प्रकार यूरोपकी समृद्ध प्रजाके मौज-शौक, भोग-विलासको अपना आदर्श बनाकर हम अुसका अनुकरण करेंगे तो हमारी हार निश्चित है। अुनके पास अपार कृत्रिम साधन हैं। किन्तु जहां दूध जैसी

चीज भी नसीब न होती हो, वहांकी प्रजा अुनके जैसे विकारोंका सेवन करे तो अुसका नाश ही होगा। मतलब यह है कि यदि आजके विद्यार्थी-जीवनको अुन्नत और विकसित बनाना हो, तो अुसका यही रास्ता है कि भोग-विलास और मौज-शौकका जीवन छोड़कर हम संयमी जीवन बितायें। यदि विद्यार्थी संयमी न बनें तो देशकी पराधीनता भी दूर नहीं हो सकती।

हरिजनबन्धु, २७–१२–'३६

३

धंधा या विकास?

प्र० — आपने 'हरिजनबन्धु' में लिखा है कि विद्यार्थियोंको अपना भावी धंधा आजसे ही निश्चित कर लेना चाहिये। परंतु क्या अिससे विद्यार्थीका सच्चा विकास रुक नहीं जायगा?

अु० — यहां विद्यार्थीके विकासका सामान्य अर्थ करें तो मैं कहूंगा कि वह नहीं रुकेगा। आज जो शिक्षा दी जा रही है अुससे बुद्धिका विकास नहीं होता। बुद्धिके विकासका प्रमाण और कसौटी क्या है? बुद्धि यानी निर्णय करनेकी शक्ति। विद्यार्थीको किस तरह रहना चाहिये, किस तरह जीना चाहिये, जीवन क्या है — अिन सब बातोंमें निर्णय करना आ जाय, तो कहा जा सकता है कि अुसने बुद्धिका विकास किया है। मैट्रिक पास होनेके बाद विद्यार्थी यह तय नहीं कर पाता कि अब क्या किया जाय। अुस अनिश्चितितामें वह तय करता है कि चलो, चार वर्ष और निकालें, फिर अिस बातका निर्णय करेंगे। अितना पढ़ लेनेके बाद भी वह यह निश्चय नहीं कर पाता कि अब क्या करूंगा। अिस प्रकार अनिश्चिततामें ही जीवनका अुत्तम समय बिगाड़नेके बाद भी जब हम अनिर्णयमें ही रहते हैं, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि हमने बुद्धिका विकास किया? जो किसान खेती करता है वह जानता है कि खेतकी जुताअी कैसे की जाय। मोटर चलानेवाला भी जानता है कि अुसे किस रास्ते जाना है। लेकिन

पढ़े-लिखे होने पर भी हमें यह खयाल नहीं होता कि हमें किस रास्ते जाना है।

बात यह है कि स्कूल-कॉलेजोंमें हम बुद्धिकी नहीं बल्कि तर्क-शास्त्रकी शिक्षा लेते हैं। और तर्कसे पूर्वपक्ष और अुत्तरपक्षकी रचना करनेकी शक्ति ही बढ़ती है; सिर्फ विचारोंको व्यवस्थित रूप देनेकी कला हाथ आती है। जैसे कोअी पिंगलशास्त्री विविध अक्षरों या मात्राओंको जमा कर छन्दकी रचना कर सकता है, जैसे कोअी संगीतशास्त्री विविध स्वरोंसे संगीतकी योजना कर सकता है, अुसी प्रकार हम शिक्षाके द्वारा तर्कको व्यवस्थित करनेकी कला प्राप्त करते हैं। मुझे कुछ बी० अेस-सी० के विद्यार्थी भी अैसे मिलते हैं, जिन्होंने विज्ञानमें भी केवल तर्कका ही ज्ञान प्राप्त किया होता है। मतलब यह कि शालामें बुद्धिकी शिक्षा दी जाती है, यह मानना भ्रम है। वह भ्रम हमें निकाल देना चाहिये और समझना चाहिये कि यह शिक्षा बुद्धिकी नहीं बल्कि तार्किक शिक्षा ही है। केवल तर्ककी शिक्षासे निश्चय करनेकी शक्ति घटती जाती है, और आत्मबल जैसी कोअी वस्तु हममें नहीं रहती। जीवनके सर्वोत्तम काल, विद्यार्थी-जीवन, के पहले पचीस वर्ष यदि हम बिना किसी निर्णयके बितायें, तब यदि बादके पचास-पचपन वर्षोंमें — सौ वर्ष तो हरगिज नहीं — पहलेके संस्कार हमारे मार्गमें बाधक बनें तो अुसमें आश्चर्य ही क्या?

अधिकतर लोग मेहनत करके खानेकी स्थितिमें होते हैं। मेहनत करके खाना जीवनका अेक बड़ा सत्य है। अिसलिअे यदि पहलेसे ही जीवनका मार्ग निश्चित हो जाय, तो अुससे निश्चयीकी संस्कारिता बढ़ेगी। अैसा मनुष्य हर बातमें अपने विकासकी दृष्टि रखेगा। वह प्रत्येक कार्यमें सावधानी रखेगा। जिसे यही मालूम न हो कि कहां जाना है, वह जीवनमें भला क्या कर सकेगा? अिसलिअे मुझे लगता है कि बचपनसे ही विद्यार्थीको यह निश्चय करा देना चाहिये कि अुसको क्या बनना है। सारे संस्कार जीवनके आसपास गुंथे होने चाहिये। अुन संस्कारोंसे भले वह ललित कलाकार बने या औद्योगिक कारीगर, परंतु वह भला नागरिक तो होगा ही। दक्षिण अफ्रीकाका प्रेसिडेन्ट जनरल बोथा कुशल गड़रिया भी था। जनरल स्मट्सके बारेमें भी यही कहा जाता है। अिसका अर्थ यह हुआ

कि कोअी मनुष्य मोची होने पर भी कांग्रेसका अध्यक्ष हो सकता है। मोची भी नागरिक होगा। वही सच्चा नागरिक है, जो किसी अुपयोगी धंधेमें कुशल है। जिसमें किसी भी अुपयोगी धंधेकी निश्चितता हो और जो अपनी कुशलता और योग्यताका अुपयोग समाजके हितके लिअे करना जानता हो, वह सच्चा नागरिक है।

यहां मैं तीसरे प्रश्नको भी मिला देता हूं। क्योंकि अुसमें भी यह पूछा गया है कि "हिन्दुस्तानकी आजकी परिस्थितिमें विद्यार्थियोंको कुशल कारीगर बनाने पर विशेष जोर दिया जाय या अुन्हें आदर्श नागरिक बनानेका प्रयत्न किया जाय?"

अच्छा नागरिक बननेके लिअे किसी भी धन्धेकी निश्चितता आवश्यक है, क्योंकि जिसके पास धन्धा नहीं वह बिना वर्णका है। कोअी भी निश्चित ध्येय न रखनेवाला वर्णहीन — बगैर धन्धेका — आदमी नागरिक नहीं हो सकता। अिस मामलेमें विद्यार्थीको पहलेसे ही निश्चितता होनी चाहिये। आज प्राथमिक शिक्षामें लिखना, पढ़ना और हिसाब करना सिखाया जाता है। ये तीन काफी नहीं होते, अिसलिअे अिनमें मैं चौथा और जोड़ता हूं कि अुसे 'मैकेनिक' भी होना चाहिये। जिसे सादे औजारोंका भी अुपयोग करना नहीं आता, अुसने प्राथमिक शिक्षण नहीं लिया अैसा समझना चाहिये। यानी औजारोंका सादा अुपयोग प्राथमिक शिक्षाका अंग माना जाना चाहिये। हर विद्यार्थीको कारीगर — बुद्धि चला सके अैसा मजदूर — बनना आना चाहिये। अिस मजदूरीमें मैं चार वस्तुओंकी शिक्षाको महत्त्व देता हूं: बढ़अीगिरी, लुहारी, खराद-काम और 'फिटर' का काम। अिन चारकी कुशलताके बिना मैं प्राथमिक शिक्षाको अधूरी मानूंगा। देशकी राजनीतिक परतंत्रता और समाजकी अव्यवस्थाके कारण आज बेकारी सबके मार्गमें बाधक होगी। लेकिन भविष्यमें जिसके पास कारीगरी होगी, अुसके लिअे भरण-पोषणका मार्ग आसान हो जायगा।

हरिजनबन्धु, ३–१–'३७

४

अुद्योग या शरीर-श्रम ?

प्र० — विद्यार्थीको सर्वांगीण शिक्षा देनेके लिअे किसी खास अुद्योगका शिक्षण देनेके बदले यदि संपूर्ण शरीर-श्रमवाला जीवन बिताना सिखाया जाय तो कैसा हो ?

अु० — केवल शरीर-श्रम काफी नहीं है। अुसके साथ अुद्योग न हो तो काम नहीं चल सकता। आज देहातमें शरीर-श्रम तो सभी करते हैं, लेकिन वह सब काम बुद्धिहीन होता है। परम्परासे जिस प्रकार काम होता चला आ रहा है, अुसी प्रकारसे आज भी होता है। गांधीजीने मधुसूदन दासके शब्दोंमें अेक बार कहा था कि "हमारा देहाती जिस बैलको रास पकड़कर हांकता है, अुसीके जैसा बन गया है।" देहातीमें योजना या बुद्धिपूर्वक मेहनत करनेका सलीका नहीं होता। मतलब यह कि शरीर-श्रममें भी कौशल चाहिये। अिसलिअे अुद्योगका शिक्षण छोड़ा नहीं जा सकता। विद्यार्थीको किसी भी अेक अुद्योगमें पारंगत होना चाहिये। 'सर्वांगीण' शब्द आजके बहुतेरे Slogans — मोहक सूत्रों — जैसा है। 'संस्कारिता, कला, व्यक्तित्व आदिका विकास' शब्द बहुत बार निरर्थकसे लगते हैं। विकास तो अेकांगी ही हो सकता है। जिसका सर्वांगीण विकास हुआ है, अैसा तो केवल अीश्वर ही माना जा सकता है। वैसे हम तो देखते हैं कि कोअी भी शाला किसी अेक निश्चित वस्तुमें पारंगत बननेका शिक्षण देनेका दावा कर सकती है। सर्वांगीण विकास करानेवाली कोअी शाला हो ही नहीं सकती।

हरिजनबन्धु, ३–१–'३७

५

धार्मिक शिक्षणकी दृष्टि

प्र० — शालाके अभ्यासक्रममें धार्मिक शिक्षण किस दृष्टिसे दिया जाना चाहिये ?

अु० — किसी भी धर्मका सच्चा शिक्षण तो अैसा होना चाहिये, जिससे हमारे हृदय संकुचित नहीं बल्कि विशाल बनें। हमने अेक महान सूत्र सीखा है 'अहिंसा परमो धर्मः'। मानव-जातिको सुख-शांतिसे रहना हो तो मानवके प्राणोंके प्रति आदर बढ़ना चाहिये। आज मानवके प्राणोंके प्रति समाजमें आदर नहीं है। अहिंसा-धर्मी जैनोंमें भी परस्पर सिर फूटते हैं और धर्मके नाम पर कितने ही अनर्थ होते हैं। अिस सबकी जड़में यह है कि हमें यह बात सिखायी ही नहीं गयी कि मनुष्य अवध्य है। कअी अदालतोंमें वैष्णव और जैन न्यायाधीश रहे होंगे। लेकिन अुनमें से किसीने भी अपने धर्मके कारण मानव-हिंसासे अिनकार किया हो अैसा जाननेमें नहीं आया। जैन राजाओंने भी युद्ध किया है। अिसका अर्थ यह हुआ कि जहांसे अहिंसाका आरंभ होना चाहिये था वहांसे नहीं हुआ। हमने छोटे-छोटे जीवोंमें और वनस्पतिमें भी प्राण देखा, किन्तु मनुष्यको अिस दृष्टिसे नहीं देखा। आज तो युद्धके लिअे जानेवाली सेनाको धर्मगुरु पोप आशीर्वाद देते हैं। वैसे ही बहुतेरे धर्मगुरुओंको युद्धके प्रति तिरस्कार नहीं होता।

शिक्षण-क्रममें धार्मिक शिक्षाकी दृष्टि अैसी होनी चाहिये, जिससे मानव-प्राणके प्रति आदर बढ़े। आज हमने खाने-पीनेके बारेमें अहिंसाकी दृष्टि बढ़ा ली है, किन्तु मानव-समाज हिलमिल कर रहे और दुश्मनी मिटे अिसमें अहिंसा-धर्म नहीं जाना। मछुआ मछली मारनेका धन्धा करता है, अिसलिअे अुसे नफरतसे अधम कहा जाता है। परंतु मोती बेचनेका धन्धा अधम नहीं माना जाता। किसीको व्यवहारमें लूटने, चूसनेमें हिंसा नहीं मानी जाती; परन्तु असलमें वह हिंसा ही है।

अहिंसाका अर्थ है जीवके प्रति आदर। अिसमें अन्य जीवोंके साथ मानव-जीवका आदर भी आ जाता है। किन्हीं अनिवार्य परिस्थितियोंमें

आत्मरक्षा करते हुअे या दूसरी हिंसाको रोकते हुअे हिंसा हो, तो अुसे अपवाद माना जा सकता है। परन्तु धर्मके नाम पर जो झगड़े होते हैं, अुनमें धर्म नहीं है। सहजानन्द स्वामीने आदेश दिया है कि स्त्री, धन और साम्राज्यके लिअे मनुष्यकी हिंसा नहीं करनी चाहिये; अुसमें धर्मके नाम पर भी मानव-हिंसाका निषेध जोड़ना आवश्यक है। और अैसी शिक्षा देनेकी आवश्यकता है। मनुष्यका वध न करनेकी बात हम स्वीकार कर लें, तो धर्मकी सारी दृष्टि ही बदल जायगी।

हरिजनबन्धु, ७–३–'३७

६

वर्ग-विग्रह बनाम अहिंसा

प्र० — आजकी सामाजिक अव्यवस्था वर्ग-विग्रहके द्वारा दूर हो सकेगी या अहिंसा और प्रेमके मार्गसे? अहिंसाकी शक्तिने मानवताके विकासमें कितना योग दिया है?

अु० — हम जब हिंसा करना आरंभ करते हैं, तब अिसे मानो भूल जाते हैं कि हम अेक ही योनिके हैं। कुत्तों या भेड़ियोंने सामूहिक रूपमें अेक-दूसरेका नाश किया हो अैसा कभी नहीं सुना। यह अलग बात है कि क्षणिक क्रोधमें पशु हिंसा करते हैं। परन्तु वे सामूहिक रूपमें लड़ाअी ही किया करते हों, अैसा तो जंगलोंमें देखनमें नहीं आया। परन्तु मनुष्य हिंसामें कुत्तों और भेड़ियोंसे भी आगे बढ़ जाता है। अिसीसे वह अपनी योनिके — मानवके — संहारके साधन जुटानेमें अपार सम्पत्ति और शक्ति खर्च करता है। आज करोड़ों रुपये खर्च करके संहारके साधन तैयार किये जा रहे हैं। वर्ग-विग्रहकी जड़में भी अैसा ही हिंसाका भाव है, क्योंकि वर्ग-विग्रहके सिद्धान्तके प्रचारमें मानव-मानवके बीच अनादरकी भावना पैदा करनेका प्रयत्न तो रहता ही है। सामाजिक या दूसरी अव्यवस्था दूर करनेका यह वांछनीय मार्ग नहीं है। व्यवस्थित रीतिसे विकसित किया हुआ प्रेमका

मार्ग ही अिससे ज्यादा अच्छा है। आज तक लड़ाअी, द्वेष तथा संहारके साधनोंके पीछे मनुष्यने अपार बुद्धि और धन बरबाद किया है। न जाने अिसमें कितनी बुद्धि और पैसा खर्च किया गया होगा। परन्तु घरकी मां जिसे जानती है अुस प्रेमका — अहिंसाकी शक्तिका — व्यवस्थित रूपसे विकास करनेका प्रयत्न नहीं किया गया। किसी अीसामसीह, भगवान बुद्ध या गांधीजी जैसे व्यक्तिने ही अिसका प्रयोग किया है। संसारमें बन्दूककी मनुष्योंको मारनेकी शक्ति बढ़े, अैसे सुधार अुसमें करनेके लिअे मनुष्यने अपनी बुद्धि खूब चलाअी है, जब कि गांधीजीने कुछ ही वर्षोंकी अहिंसाकी साधनासे विदेशी सत्ताके पैर भारतसे अुखाड़ दिये हैं। अिन दोनोंमें किसकी शोध ज्यादा अच्छी मानी जायगी?

आज संहारके विविध साधन पैदा होते जा रहे हैं। अिसलिअे मनुष्य मानने लगा है कि संहारके साधन अनन्त हैं। तब मैं पूछता हूं कि प्रेम और सत्याग्रहकी शक्तिको क्यों न अनन्त माना जाय? गांधीजीने सत्य और अहिंसाकी शक्तिका नया प्रयोग किया और अिस मानव-बलको संसारमें अुज्ज्वल बनाया। अिसी प्रकार सच्ची निष्ठासे यदि दूसरे भी अिस काममें लगें, तो हम आगे क्यों नहीं बढ़ सकते? अहिंसा और प्रेमकी शक्तिका मनुष्यको पूरा अनुभव हो गया है और अुसका अन्त आ गया है, अैसा माननेके लिअे कौनसे कारण हैं? गांधीजीने जो कुछ बतलाया वह वहीं पूरा हो गया, यह कैसे माना जा सकता है? आज यदि कोअी कहे कि अभी विविध प्रकारके यंत्र और बढ़ेंगे, तो अुससे हमें आश्चर्य नहीं मालूम होता। किन्तु यदि यह कहा जाय कि प्रेम और अहिंसाकी शक्तिका और भी अधिक विकास किया जा सकता है, तो अुस पर श्रद्धा रखना बुद्धिसे बाहरकी बात जान पड़ती है।

गांधीजीने जब अहिंसाका मार्ग अपनाया, तो अुसके लिअे संशोधनका काम हाथमें लिया। दूसरोंने अैसे प्रयत्न कहां किये हैं? हमें यदि अहिंसाके रास्ते जाना हो, तो अुससे अुलटा रास्ता हमारे लिअे बिलकुल बन्द होना चाहिये। यदि हम अधूरी श्रद्धासे चलेंगे तो कुछ भी लाभ नहीं होगा। अहिंसाके मार्गमें जरा भी असफल हुअे कि हिंसाकी ओर चले, यह ठीक नहीं। अिससे तो कुछ भी काम न होगा। अहिंसामें कैसी-कैसी

शक्तियां भरी हैं, यह जाननेके लिअे भी अुसके विरुद्ध दूसरे पहलूका हमें सर्वथा त्याग करना होगा।

अहिंसाकी शक्तिने मानवताके विकासमें जो योग दिया है, वह अितना बड़ा है कि अुसका मैं यहां पूरी तरहसे वर्णन नहीं कर सकता। यदि अहिंसा-शक्तिके योगके बारेमें आपको कुछ अुपयोगी बातें जाननी हों, तो मैं आपको श्री नरहरिभाअी परीखकी अनुवाद की हुअी प्रिंस क्रोपाटकिनकी पुस्तक 'सहायवृत्ति'* पढ़ जानेकी सलाह देता हूं। जैसा कि डार्विनने कहा है, मनुष्य-जातिने 'जिसकी लाठी अुसकी भैंस' के न्यायसे विकास किया है। यह सच है कि वह विकास परस्पर सहयोगसे हुआ है। यह बात आपको अुस पुस्तकमें जाननेको मिलेगी। मैं मानता हूं कि वह पुस्तक हर विद्यार्थीको पढ़नी चाहिये। वह डार्विनसे सर्वथा भिन्न दृष्टिसे लिखी गअी है, और अुसे पढ़नेसे संघशक्तिके प्रति आदर बढ़ सकता है।

अहिंसाके विकासका माप अेक रीतिसे निकाला जा सकता है। मनुष्य-समाजने धीरे-धीरे अहिंसाकी ओर प्रयाण किया है, यह देखा जा सकता है। अुदाहरणार्थ, अेक समय अैसा था जब अपराधीको देहान्त दंड दिया जाता था। अिसके अलावा, छोटे-छोटे अपराधोंके लिअे अपराधीको कांटोंमें जलाकर, पानीमें डुबोकर या पत्थरकी मारसे खतम कर दिया जाता था। तेलमें तलने और चमड़ी अुधेड़नेकी बातें भी कही जाती हैं। ये क्रूर प्रथायें आज नहीं रहीं। राज्यकी आज्ञासे भी अब यदि प्राणान्त दण्डकी सजा दी जाती है, तो अुसमें हमारा झुकाव अैसे तरीके खोजनेकी ओर रहता है जिनसे मरनेवालेको कमसे कम पीड़ा हो। वैज्ञानिक या कसाअी लोग प्राणियोंकी हिंसा करते हैं, अुसमें भी वे अैसा तरीका या साधन काममें लेते हैं, जिससे प्राणी यातना सहकर न मरे। यद्यपि अेक ओर युद्ध-सामग्रीमें विषैले बम वगैराकी क्रूर पद्धतियां बढ़ती जा रही हैं, फिर भी नागरिक जीवनमें ये सब चीजें अहिंसाका विकास बतलानेवाली हैं। मनुष्यने हिंसा की है और आज भी वह करता है, फिर भी अुसमें अुसने शांति या कृतार्थताका अनुभव नहीं किया। क्योंकि अुसमें वैरभाव भरा

* नवजीवन द्वारा प्रकाशित गुजराती अनुवाद। कीमत १-४-०; डाकखर्च ०-३-०।

हुआ है। मनुष्यको स्वभावसे ही जीवोंका दुःख घटानेमें सन्तोष मिलता है। अहिंसा-शक्तिने मानवताके विकासमें कितना योग दिया है, अिस पर आपमें से अितिहासके विद्यार्थी काफी छान-बीन करके अेक निबन्ध तैयार कर सकते हैं। यह सारा विषय बहुत ही रसप्रद और महत्त्वपूर्ण है। आपमें से किसीको अिस दिशामें प्रयत्न करना चाहिये।

हरिजनबन्धु, ७-३-'३७

७

स्वतंत्रता और नियमन

अेक विद्यार्थीने नीचे लिखा प्रश्न पूछा है :

> "हम स्वतंत्रतामें विश्वास करते हैं, फिर भी शालाओंमें विद्यार्थियोंसे व्यवस्थित काम करवानेके लिअे अुन पर नियमनका बोझ क्यों लादा जाता है? यदि वे स्वतंत्र रूपसे काम न कर सकते हों, तो अुसका कारण क्या है? अुनमें स्वतंत्र रूपसे काम करनेकी आदत डालना किसका फर्ज है?"

हम स्वतंत्रतामें विश्वास रखनेवाले हैं, अिसका अर्थ यह नहीं कि हम अराजकता या अव्यवस्थामें भी विश्वास रखें। देश आज जिस स्वतंत्रताके लिअे आन्दोलन कर रहा है, वह अेक खास प्रकारकी ही स्वतंत्रता है। हमारा प्रयत्न अैसी स्वतंत्रता पानेका है, जिसमें देशके कारोबारमें विदेशियोंका हस्तक्षेप न रहे।

अिसके अुपरान्त हम यह चाहते हैं कि देशका कारोबार चलाते हुअे अमुक बातोंमें हर नागरिक तथा समाजको अपनी अिच्छाके मुताबिक चलनेकी स्वतंत्रता हो। अिन बातोंको छोड़कर अन्य बातोंमें नियमन न हो, अैसा कोअी भी समझदार मनुष्य नहीं सोचता। मतलब यह कि स्वतंत्र हिन्दुस्तानमें भी व्यक्तियों तथा समूहों पर अनेक प्रकारके अंकुश, अनिवार्य कर्तव्य आदि रहेंगे ही।

जैसा देशमें वैसा ही संस्थाओंमें भी — यानी स्कूलोंमें भी होगा।

'मुद्राराक्षस' के लेखकने स्वतंत्रताकी अच्छी परिभाषा की है। अुन्होंने कहा है: स्वतंत्रताका अर्थ है अच्छे काम करनेकी स्वतंत्रता। गलत काम करनेसे, कर्तव्य-भ्रष्ट होनेसे, गड्ढेमें गिरनेसे जो नियमन रोकता है वह स्वतंत्रताका विरोधी नहीं है।

मतलब यह है कि व्यवस्थित समाज और संस्थामें कोअी नियमन न हो, अैसी स्थिति कभी आ ही नहीं सकेगी। आज्ञा देने और आज्ञा माननेके कर्तव्य तो रहेंगे ही। यदि सुधार हो सकेंगे तो वे आज्ञा करने, काम करवाने तथा व्यवस्था रखनेके तरीकोंमें होंगे। अनगढ़ शिक्षक बेंतसे वर्गमें व्यवस्था रखनेका प्रयत्न करेगा, मध्यम शिक्षक विद्यार्थियोंको लालच बतलाकर और अुत्तम शिक्षक कला और प्रेमके द्वारा वैसा करेगा। नियमन अखरे नहीं या कमसे कम अखरे, अितना ही प्रयत्न किया जा सकता है।

फिर भी नियमन तो नियमन ही रहेगा। कभी न कभी तो वह अखरेगा ही। प्रेमका नियमन हो तो भी आलसीको वह अखरे बिना नहीं रहेगा; जड़ मनुष्यको भी अखरेगा; जिसे अपनी बुद्धिका अत्यंत गर्व हो, अुसको भी अखरेगा; और स्वच्छन्दी, व्यसनी तथा दुष्टजनोंको भी अखरेगा। वे तो कहेंगे कि अिससे हमारी स्वतंत्रताका हनन हो रहा है।

शाला या समाजमें नियम-भंगके लिअे पुराना अिलाज दण्डका है। जैसे शालासे दण्डकी प्रथा धीरे-धीरे अुठती जा रही है, वैसे ही हम आशा करें कि वह समाजसे भी अुठ जायगी। हो सकता है कि नियम-भंग करनेवालोंको किसी-न-किसी प्रकार रोगी मानकर अुनका डॉक्टरी अिलाज करवानेकी व्यवस्था की जाय। परंतु यह डॉक्टरी अिलाज भी सबके लिअे अनिवार्य होगा, अिसलिअे अैसा नहीं कहा जा सकता कि वह सबको पसंद ही आयेगा। संभव है काममें आलसी करनेवाले विद्यार्थी अस्पतालमें जानेकी अपेक्षा बेंतकी सजा ज्यादा पसंद करें।

बालक या बड़े स्वतंत्र रूपमें स्वेच्छासे अपना कर्तव्य पूरा नहीं कर पाते, अुसके कअी कारण हो सकते हैं; अुदाहरणार्थ, काम करनेकी आदतका अभाव, शारीरिक या मानसिक रोग, हृदय और बुद्धिकी जड़ता, कोअी खराब आदत, कोअी स्वार्थ। ये लोग स्वतंत्र रूपमें काम करने

लगें, अिस ध्येयको सामने रखकर नियामकोंको काम करना चाहिये। अिस संबंधमें किस प्रकारके अुपाय किये जायं, अिसका शास्त्र धीरे-धीरे बनता और विकास करता जा रहा है।

विद्यार्थियोंको अेक बात जान लेनी चाहिये: जबरन नियम पलवाना किसी भी शिक्षक या अधिकारीको पसंद नहीं होता। प्रेमके सिवा किसी दूसरी रीतिसे चलनेवाले नियामकको भी जबरदस्ती करनेमें कोअी आनन्द नहीं आता। नियम पालनेकी आवश्यकताके कर्तव्यमें से अुसे जो रीति सूझती है, अुसीका वह अमल करता है।

नियम तोड़नेवालोंको स्वतंत्र रूपसे काममें लगानेका कर्तव्य केवल नियामकोंका ही नहीं, बल्कि अच्छी तरह नियम पालनेवालों — यानी दूसरे विद्यार्थियों और नागरिकोंका भी है। कोअी विद्यार्थी स्वतंत्र रूपसे काम न करे, तो अुसे सुधारनेमें दूसरे विद्यार्थियोंको भी मदद करनी चाहिये।

'शिक्षण अने साहित्य', फरवरी १९४०

८

संस्कारी और असंस्कारी बालकोंका सहवास

प्र० — कअी माता-पिता अपने बालकोंको गरीबोंके लड़कोंके साथ नहीं खेलने देते। क्या यह अुचित है? क्या अिससे बालक पर बुरे संस्कार पड़ते हैं?

अु० — यहां गरीब शब्द जितना आर्थिक हीनताको बताता है अुसकी अपेक्षा सांस्कारिक या जातिकी हीनताको अधिक बताता है। साधारणतः माता-पिता अपनी जातिके गरीब बालकोंके साथ अपने बालकोंके मिलने-जुलनेमें आपत्ति नहीं मानते। परन्तु जिन्हें वे अपनेसे नीची जातिके या हलके संस्कारवाले समझते हैं, अुनसे अपने बालकोंको नहीं मिलने देते।

परन्तु अधिकतर तो अिसमें मिथ्याभिमान ही रहता है। मिलनेवाले बालक किस स्वभावके हैं, अुसी पर सारी बात निर्भर करती है।

बचपनमें मेरे पिताके अेक हमालका लड़का मेरा घनिष्ठ मित्र था। अुसके साथ हमालोंके दो-तीन और लड़के भी मेरे साथ खेलते थे। अुन लड़कोंने मुझे कभी बुरी आदतें सिखाअी हों अैसा मुझे याद नहीं पड़ता। हां, अुनका प्रेम मुझे अभी तक याद है। लेकिन जिन निकटके सगे-सम्बन्धियोंके लड़कोंके साथ मैं खेला था, अुनसे मैंने बहुतसे दोष सीखे थे। अेकके साथ रहकर मैंने अेक-दो छोटी-छोटी चोरियां करनेमें भी मदद दी थी। बुरी आदतें सिखानेवाले अधिकतर तो अपने सगे-सम्बन्धियोंके या समान दर्जेके लड़के ही होते हैं। वह 'गरीब' का लड़का गंदी गाली देता, तो मैं समझता कि अुसकी जातिमें गाली देनेकी आदत है अिसलिअे वह दे सकता है, पर मैं नहीं दे सकता। मैं जब अुसे कहता कि भाअी, गाली नहीं देना चाहिये तो वह मान लेता था। परन्तु जब सम्बन्धियोंके लड़के गाली देते और मैं अुन्हें रोकने जाता, तो वे कहते : बड़ा आया समझदार-का बाबा; तुझे अच्छा न लगता हो तो हमारे साथ खेलने न आया कर। बादमें तो खेलनेकी गरजसे मैं अुनकी गन्दी भाषा सहन भी करने लगा और अुसमें कुछ मजा भी लेने लगा। समान दर्जेके बालकोंने मुझे जो कुसंस्कार दिये हैं, अुनकी ओर यहां मैंने थोड़ा अिशारा किया है। बड़ोंमें यह अन्धविश्वास रहता है कि अुनके और अुनके समान दर्जेवाले बालकोंमें कोअी दुराचरण हो ही नहीं सकते। परन्तु कुसंस्कार प्रायः समान दर्जेके बालकोंसे ही फैलते हैं।

अिसलिअे अिसमें गरीब-अमीर या अूंची-नीची जातिका भेद करना ठीक नहीं। हमारा लड़का कैसा है और अुसके साथी कैसे हैं, अिसका व्यक्तिगत अध्ययन करके ही यह निश्चित करना चाहिये कि साथियोंके साथ अुसे रहने देना अच्छा है या बुरा।

'शिक्षण अने साहित्य', अक्तूबर १९४०